उत्तर आधुनिक कम्युनिस्ट : सुधारवादियों की नयी किस्म

[illegible] के नेतृत्व वाली पहली पार्टी कांग्रेस [illegible] में, जो पहले उनके [illegible] में आयोजित की गयी थी, उनका पहला सम्मेलन 1918-19 और 1920 को लिया। इस सम्मेलन के जो दस्तावेज उपलब्ध हुए हैं वे कम्युनिस्ट आंदोलनों के लिए बेहद विचार के विषय हैं। उदाहरण, इसके पहले दस्तावेज - **[illegible]** में तो कि सम्मेलन का सर्वाधिक ध्यान संगठन पर है, जो बातें उठी गयी हैं वे पार्टीसंगठन और कम्युनिस्ट अभिव्यक्ति विशेषज्ञों से संबंधित विषयवार हैं। वे उत्तर-आधुनिकतावाद, अस्तित्व और मूल्यवाद का इतना अतिरेकपूर्ण दस्तावेज हैं कि कम्युनिस्ट आंदोलनों का यह पक्ष पढ़ते हुए यह कभी नहीं लगता कि किसी सोवियत आंदोलनों के बाद से आज अस्तित्व बचा पाएगा, ऐसा नहीं लगा सकता।

उत्तर-आधुनिकतावाद अर्थात् सुधारवाद के इस दस्तावेज में सिद्धांत और व्यवहार के उन सभी पक्षपातों को [illegible] का संगठन सर्वोपरि किया गया है जो कम्युनिस्ट आंदोलनों के लिए कभी नहीं हो सकते हैं और जिन पर आगे की लड़ाई कर के ये अपने आंदोलनों को [illegible] के [illegible] बने हुए हैं। इस सभी को सूक्ष्म परीक्षण कर लिया गया है और बात-बात इसे व्याख्या करते हुए [illegible] किया गया है कि कम्युनिस्ट आंदोलन की इस तरह पुनर्व्याख्या क्यों जरूरी। यहां कार्य दैनंदिन बुद्धिजीवी आलोचनों और खुले विचार से बोलने के नाम पर किया गया है। विडंबना यहां बुद्धिजीवी उस वैचारिक का नहीं है जो किसी भी तरह मजदूर की एक बात लिए उठाता है और सारे आलोचना पार्टी के सैद्धांतिकी में एक बात फिर लाना चाहता है कि उसके लिखित सभी है। यहां बुद्धिजीवी एक अलग बुद्धिजीवी का है जो बुर्जुआ प्रचार से प्रभावित नहीं है और अपने सभी तरह कार्यों को सूक्ष्म करता रहा है। उसके पास अनेक व्याख्या के लिए कोई कमी नहीं रहा नहीं है। लेनिन जिस की उस सभी तरह हमारी को खुला करता रहा है। इस बात का इसमें पीछा कोई प्रयास नहीं है कि उसको पहला इस कार्यों का अपने के लिए क्या खुला नहीं है और इस दस्तावेजों में जिस को "पार्टी" कहते की कहा गया है वे पार्टी से मजदूरवर्गियों और सर्वहारावर्गियों द्वारा दीवारों आने वाले कहे हैं।

इसी तरह सर्वहारि सर्वहीवाद और संगठन में पार्टी को "पार्टी" कहते की नई है वे पार्टी को सभी मजदूरवर्ग और आंदोलन की ओर उन्मुख है।

यहां यह बात ध्यान रखने जरूरी है कि इस संगठन को ये सारी कोई नयी नहीं है। पिछले तीन-चार सालों से यह धारणा इस पार्टी को इस या उस रूप में, इस या उस रंग से उपलब्ध रहा है। आंदोलनों होने द्वारा उसकी इस पार्टी की गंभीर आलोचना की गई है। लेनिन यह उसे संसदी रंग कहता रहा है। पीछे सम्मेलन के ये दस्तावेज इस पार्टी से इस संगठन के सारे मुख्यमन्त्र और अभिव्यक्ति दस्तावेज है। इसलिए उसकी विस्तृत खुलकर की जरूरी पहलेन् और आंदोलनों सारी से उसके विचलन का समय सारे पहलुओं विस्तृत अध्ययन चाहिए।

पीछे सम्मेलन के आखिर दस्तावेजों में कुल तीन दस्तावेज है: (1) समाज समाज, हमारे कार्यक्रम, (2) अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के बारे में, (3) कम्युनिस्ट पार्टियों के बारे में।

इनमें आखिरवार पहले का दस्तावेज महत्व में सबसे पीछे उपलब्धि है यह यहां कि पहले और बाद के दोनों दस्तावेजों में स्पष्ट [illegible] है। "पार्टी" शब्दों को पहले दस्तावेज में जिस तरह-तरह लाया गया है, वह बाद के दोनों दस्तावेजों में गायब है। बाद के दोनों दस्तावेज पुराने ढ़ैसले में है और "पार्टी" शब्दों उसमें पुराने-पुराने और सामान्यीकृत इसमें गये हैं। ऐसा नहीं है कि ये यहां नहीं है। अपने मूल रूप में ये सारी बातें इन दस्तावेजों में भी हैं, लेकिन ये यहां मुख्य नहीं है।

एक बात में यहां उल्लेख यह है दोनों बाद के दस्तावेज 'समाज समाज, हमारे कार्यक्रम' और उस दस्तावेज के बीच की बीच है जो इस संगठन के दोनों सम्मेलन [उस दिसम्बर-जनवरी, 1920] में स्वीकार किया गया था। वास्तविक 1920 के दस्तावेज में भी कई गम्भीर विचलन है लेकिन मूल विषयवस्तु में संगठन संबंधी

अवस्थिति अपनाते हैं। कई मामलों में गम्भीर मतभेद रखते हुए भी उन्हें मोटा-मोटी क्रांतिकारी अवस्थिति कहा जा सकता है। लेकिन इन दस्तावेजों के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती, खासकर पहले के बारे में।

जैसा कि पहले इंगित किया गया है, क्रांतिकारी खेमे द्वारा आलोचना के बावजूद इस संगठन के नेतृत्व ने अपने "नये" विचारों को त्यागा नहीं है। अब यदि वे बने हुए हैं तो इस संगठन और आंदोलन पर वे घातक प्रभाव डालेंगे ही। इसीलिए इनका विश्लेषण और निर्मम आलोचना आवश्यक है जिससे इनसे कम्युनिस्ट कतारों को प्रभावित होने से बचाया जा सके।

"हमारा समय, हमारे कार्यभार" (और बाद के दस्तावेजों में भी) ये गलत विचार और विचलन, अन्य बातों के अलावा मूलतः सात विषयों के इर्द-गिर्द हैं। ये निम्नवत हैं:

1. समाजवाद के इतिहास से संबंधित
2. साम्राज्यवाद और तीसरी दुनिया से उसके संबंध
3. विकसित पूंजीवादी विश्व की वर्तमान स्थिति
4. क्रांतिकारी समांतर ताकत
5. पार्टी की वर्गीय संरचना का सवाल
6. भूमिगत पार्टी का सवाल
7. नये सामाजिक आंदोलन

हम इनको एक-एक कर लेंगे और क्रांतिकारी सिद्धान्तों से इस संगठन के विचलन को चिह्नित करेंगे।

I

समाजवाद का इतिहास और तथाकथित पुनर्विचार

जैसा कि सुधारवादियों द्वारा हमेशा किया जाता है, यहां भी शुरुआत समाजवाद के इतिहास पर सवाल उठाने से, और वस्तुतः कहा जाए तो उस पर कालिख पोतने से शुरू हुई है। इसके अलावा कोई चारा नहीं है। बीसवीं सदी में समाजवाद का इतिहास वह देदीप्यमान दिशा-निर्देशक है जिसकी रोशनी में इस शताब्दी में समाजवाद की ओर निश्शंक बढ़ा जा सकता है। समाजवाद का पिछले डेढ़ सौ सालों का, और विशेषकर पिछली शताब्दी का इतिहास वह हौसला देता है जिसके आधार पर मजदूर वर्ग बिना डगमगाए अपने शत्रुओं — साम्राज्यवाद और पूंजीवाद — से लोहा ले सकेगा। लेकिन शंकालु बुद्धिजीवियों और संशयग्रस्त सुधारवादियों के लिए यह इतिहास उतनी ही बड़ी बाधा भी खड़ी करता है। जब तक वह तेज-प्रखर ढंग से चमक रहा है, तब तक इनकी नहीं चलेगी। इसीलिए इन शंकालुओं के लिए सबसे पहले यह जरूरी होता है कि उस पर धुंध चढ़ाई जाए। उस चमक को धुंधला किया जाए। हर चीज को शंका के घेरे में ले आया जाए। कुछ इस तरह का माहौल तैयार किया जाए कि क्या पता स्टालिन सही थे कि बुखारिन?

जैसा कि कहा गया है, हर नया शंकालु बुद्धिजीवी, सुधारवादी यही करता है। बर्नस्टीन ने यही किया। क्या उसने पूंजीवाद की जीवंतता से शुरुआत नहीं की थी? क्या उसने समाजवाद के सफल नहीं होने से शुरुआत नहीं की थी? क्या ख्रुश्चेव ने स्टालिन काल पर कालिख पोतने से शुरुआत नहीं की थी? क्या डेंग ने भी माओ काल पर कालिख नहीं पोता? क्या विनोद मिश्र ने भी समाजवाद के "मानक माडल" न होने से शुरुआत नहीं की? क्या उसने भी जनवाद न होने का रोना नहीं रोया? (लेकिन खैर विनोद मिश्र व लिबरेशन को तो ये अब क्रांतिकारी मानते हैं!)

यहां हम पहले ही एक बात नोट कर लें। इस संगठन का तीसरा सम्मेलन सितम्बर-अक्टूबर, 1992 में हुआ था - पूर्वी यूरोप की घटनाओं के तीन साल बाद और सोवियत संघ के पतन के एक साल बाद। यानि उन घटनाओं का मूल्यांकन करने के लिए तब तक इसको काफी समय मिल चुका था। और वास्तव में वह किया भी गया था। तीसरे सम्मेलन में बाकायदा एक दस्तावेज स्वीकृत है "अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा के ऐतिहासिक अनुभव से सबक।" इसमें माओ विचारधारा को आधार बनाकर 1989-91 की घटनाओं का मूल्यांकन पेश किया गया है। इस दस्तावेज में कई खामियों (कुछ तो काफी गंभीर) के बावजूद इस बात के कोई संकेत नहीं हैं कि

बीसवीं सदी का समाजवाद इस संगठन के लिए तब खुला सवाल बन रहा था। तब वे इसके लिए तयशुदा सवाल थे।

लेकिन दो-तीन साल गुजरते-गुजरते वे इसके लिए खुले सवाल बन गये। आइये देखें कैसे?

> "... यह [तीसरी-संपादक] कांफ्रेन्स पूर्वी यूरोप के उखाड़-पछाड़ और सोवियत संघ के पतन के साये में हुयी थी। वे अत्यन्त व्यापक महत्व की घटनाएं थीं और इनकी जड़ें अतीत में काफी गहरे जाती हैं जो समाजवाद के पूरे इतिहास, वस्तुतः तो समूची बीसवीं सदी को अपने में समेटती हैं। ... इसके आगे, वस्तुतः विद्यमान समाजवाद (actually existing socialism) के इतिहास में वर्तमान समय का वह अंतराल है जब अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन को शत्रु का पुनर्मूल्यांकन करना है, अपनी रणनीति पुनः तय करनी है, समाजवाद के लक्ष्य को पुनः प्रस्तुत (rearticulate) करना है, और इसके भविष्य की रूपरेखा पुनः बनानी है।" (Documents of fourth conference, CLI (ML), पृष्ठ-1-2, सभी अनुवाद हमारे)

वैसे तो ये घटनाएं पहले ही हो गयी थीं,

> "... लेकिन इन घटनाओं ने कांफ्रेन्स पर उतना गहरा प्रभाव नहीं छोड़ा, जितना की अपेक्षित था।..." (वही, पृष्ठ-2)

> "वक्त गुजरने के साथ इन परिवर्तनों का व्यापक प्रभाव प्रत्यक्ष होता गया है। वैश्विक परिदृश्य, स्थानीय वातावरण, वह सारा राजनीतिक और सामाजिक वातावरण जिसमें हम रहते और काम करते हैं, सभी प्रत्यक्षतः या परोक्षतः प्रभावित हुए हैं। और ये घटनाएं ही केवल अपने आप में नहीं, बल्कि वे सारे सवाल जो इन्होंने बहुत तीखे रूप में फोकस में ला दिए हैं, वर्तमान के वैश्विक पूंजीवाद के बारे में सवाल, समाजवाद के भविष्य के बारे में सवाल और तीसरी दुनिया के पिछड़े पूंजीवादी देशों में क्रांतियों के चरित्र और संभावनाओं के बारे में सवाल। समय बदल गया है और सभी क्रांतिकारी पार्टियां और संगठनों के लिए, चाहे वे छोटे हों या बड़े, यह अत्यावश्यक हो गया है कि वे इस समय की बनावट का पुनर्मूल्यांकन करें तथा तदनुरूप ही कार्यभारों को पुनर्निधारित करें।" (वही, पृष्ठ-2)

यानि 1992 में समय नहीं बदला था और 1996-97 आते-आते वह बदल गया और वह भी उन घटनाओं के कारण जो 1989-91 में हुई थीं। यह मूलतः अपनी पहले की अवस्थिति को बदलना है लेकिन यह साफ-साफ खुलकर नहीं किया जा रहा है। यह खुल कर नहीं कहा जा रहा है कि 1992 में हमने जो अवस्थिति ग्रहण की थी, वह गलत है। वह कुछ इस तरह की गोलमाल भाषा में कहा जा रहा है कि "इन घटनाओं ने कान्फ्रेन्स पर उतना गहरा प्रभाव नहीं छोड़ा जितना कि अपेक्षित था"। यह कितना "अपेक्षित" था। और यह "अपेक्षा" कब बनी? निश्चय ही यह तब बनी जब बुर्जुआ के निरंतर दुष्प्रचार से इन शंकालु बुद्धिजीवियों के पांव उखड़ गये। तब उन्हें वे बातें भी सारगर्भित लगने लगीं जिन्हें वे बुर्जुआ व संशोधनवादी प्रचार कह कर खारिज कर देते थे। ऐसे में उन्हें अपनी ही पिछली कांफ्रेंस पुरानी लगने लगी।

ऐसे में उन्हें लगता है कि समाजवाद के पूरे इतिहास पर पुनर्विचार कर समाजवाद के नये विचार पेश किये जाने चाहिए। यहां यह दृष्टव्य है कि इनकी यह भाषा व शब्दावली हू-ब-हू उन मार्क्सवादी बुर्जुआ बुद्धिजीवियों की है जो 'मन्थली रिव्यू' पत्रिका के इर्द-गिर्द इकट्ठे हैं। इन बुद्धिजीवियों के बारे में हम हमेशा से जानते हैं कि इन्हें स्टालिन से चिढ़ और नफरत है तथा रूस व चीन के समाजवाद को वे एक "विकृति" के रूप में ही स्वीकार करते हैं, समाजवाद के रूप में नहीं। इस संगठन द्वारा उठाये गये सारे सवाल, अन्य जगहों के अलावा "मन्थली रिव्यू" पत्रिका के तमाम अंकों में मिल जायेंगे।

आइये आगे बढ़ें। यह संगठन कहता है:

> "... ये कठिन सवाल है और वर्तमान परिस्थितियों में वे ज्यादातर खुले सवाल हैं।..." (वही, पृष्ठ-3)

> "...(समाजवाद के) इस इतिहास में एक युग समाप्त हो गया है और जनता के सभी हिस्सों में यह संशय व्याप्त है कि क्या समाजवाद का कोई भविष्य है भी।..." (वही, पृष्ठ-14)

> "... इन स्थितियों में यह अत्यावश्यक हो गया है कि समाजवाद के आदर्शों को पुनः प्रस्तुत किया जाय और इसके भावी स्वरूप की एक नयी रूपरेखा बनायी जाय। इसके बिना समाजवाद के आदर्शों की आम जन स्वीकार्यता संभव नहीं होगी।" (वही, पृष्ठ-14)

> "कम्युनिस्ट आंदोलन नयी ताकतों को आकर्षित नहीं कर सकता यदि वह आज पूंजीवाद की सशक्त आलोचना प्रस्तुत नहीं करता, यदि वह पूंजीवाद के मुकाबले बेहतर विकल्प के रूप में समाजवाद को पुनः प्रस्तुत नहीं करता और हमारे समाज की स्थितियों के हिसाब से वास्तविक और नयी क्रांतिकारी रणनितियों को सामने नहीं लाता।..." (वही, पृष्ठ-35)

यानि 1989-91 की घटनाओं ने समाजवाद को वह झटका दिया है कि यदि समाजवाद के इतिहास पर पुनर्विचार नहीं किया जाता तो लोग आकर्षित नहीं होंगे। यही नहीं, इनके हिसाब से आम जनता में संशय व्याप्त हो गया है कि क्या समाजवाद का कोई भविष्य है भी? यह कौन सी जनता है जिन्हें ये आकर्षित करना चाहते हैं और जो संशयग्रस्त हो गयी है। क्या वर्ग चेतन मजदूर? नहीं! क्या आम मजदूर? लेकिन वह 1989-91 से पहले भी समाजवाद के बारे में क्या जानता था कि इसके बाद संशयग्रस्त हो गया। क्या क्रांतिकारी किसान? नहीं! क्या आम किसान? उसकी हालत तो आम मजदूर की ही है। फिर कौन संशयग्रस्त हो गया है? निश्चय ही यह संशयग्रस्त जनता पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवी हैं। यह आम तौर पर भी है और उसका वह हिस्सा भी है जो क्रांतिकारी आंदोलन में हैं।

यह पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवी अपने चरित्र में ही शंकालु, दृढ़ विश्वासों से रहित होता है। हवा के रुख बदलने से ही इसके विचारों के खूंटे हिल जाते हैं। वह तुरंत फैशन के प्रभाव में बह जाता है। यदि 1970-80 का दशक मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव का दशक, नक्सलबाड़ी के प्रभाव का दशक था तो वह मार्क्सवादी था। 1989-91 की घटनाओं के बाद जब संशोधनवादियों के किले ध्वस्त हुए और बुर्जुआ वर्ग ने वैचारिक हमला किया तो मार्क्सवाद फैशन में नहीं रहा। अब ये सारे पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवी मार्क्सवाद का फैशन छोड़ रहे हैं या छोड़ चुके हैं। वे मार्क्सवाद की ओर आकर्षित नहीं हो रहे हैं। और उनके इस पलायन से श्रीमान अरविन्द और उनका संगठन भयभीत हो गया है कि जनता समाजवाद के प्रति संशयग्रस्त हो गयी है।

इतिहास में हमेशा ऐसे दौर आये हैं जब समाजवाद और समाजवादी विचारधारा को धक्का लगा है। और ऐसे हर दौर में मार्क्सवाद में संशोधन की, समाजवाद के बारे में पुनर्विचार की चीख-पुकार मची है। हर बार पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवी मार्क्सवाद छोड़कर पलायन किये हैं और अपने पीछे भारी गर्द-गुबार और दुर्गन्ध छोड़ गये हैं। इस बार भी यही हो रहा है। बुर्जुआ प्रचार के सामने क्रांतिकारी आंदोलन के कुछ बुद्धिजीवियों के पांव उखड़ रहे हैं और वे पुनर्विचार-पुनर्विचार की चीख पुकार मचा रहे हैं।

अगर वैसे बात की जाय तो, 1989-91 की सारी घटनाओं के बाद भी, समाजवाद के बारे में लोगों को विश्वास दिलाना या समाजवाद के बारे में लोगों की आम शंकाओं का समाधान करना पहले से जरा भी मुश्किल नहीं है। माओ विचारधारा और सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति उन सारे सवालों का जवाब दे देती है जो सामान्यतया समाजवादी निर्माण के संबंध में उठते हैं। और वे इसके लिए पर्याप्त हैं भी। इनसे अलग और इनसे गहरे कोई भी सवाल 1989-91 की घटनाओं ने नहीं उठाये हैं। और ये उठा भी नहीं सकती थीं क्योंकि यह समाजवाद का पतन नहीं बल्कि नौकरशाहों द्वारा संचालित राजकीय पूंजीवाद का पतन था। समाजवाद तो कब का 1956 या 1976 में ही खत्म हो गया था। फिर पुनर्विचार की जरूरत कहां से आ गयी और वह भी लोगों को आकर्षित करने के लिए, संशयग्रस्त लोगों को संतुष्ट करने के लिए।

हां, यह सही है कि आज हमारा समय क्रांतिकारी नहीं है। और हो सकता है कि हमारी रणनीति और रणकौशल भी मुकम्मल न हों। लेकिन इनका समाजवाद के इतिहास से क्या लेना-देना? या अपनी रणनीति और रणकौशल सही करने के लिए अपने इतिहास पर कालिख पोतना जरूरी है। हां, यदि आप सुधारवादी रणनीति व रणकौशल अपनाना चाहते हैं तो यह जरूरी है, अन्यथा नहीं।

आइये, अब जरा देखें कि कौन से नये सवाल उठाये जाते हैं और कौन से प्रश्नों को खुला किया जाता है।

> "... इन मुद्दों और सवालों का उस और ज्यादा पश्चदृष्टि के साथ पुनर्मूल्यांकन करने की जरूरत है, जो पिछले कुछ दशकों में प्राप्त हुयी है। इस तरह के मुद्दे जैसे समाजवादी निर्माण के अलग-अलग दौरों में उत्पादन के साधनों का विभिन्न प्रकार का स्वामित्व और वर्गीय मोर्चाबन्दी, योजना और बाजार के बीच संबन्ध तथा उत्पादन के माल चरित्र के खात्मे के चरण, वर्तमान जीवन-स्तर और भविष्य की वृद्धि, उत्पादन में नयी पद्धतियों और नये-नये क्षेत्रों में विस्तार तथा उत्पादक शक्तियों का विकास, आम जनता की राज्य के मामलों में सक्रिय भागीदारी और समाजवादी जनवाद का सवाल और इसी तरह के ढेरों मुद्दे समाजवाद के सारे काल में मुद्दा बने हुए थे और वे भविष्य के समाजवादी प्रयोगों के लिए भी ज्यादातर खुले सवाल हैं।" (वही, पृष्ठ-21)
>
> "समाजवादी जनवाद के रूप और प्रक्रियाओं के बारे में भी खुले सवाल हैं।..." (वही, पृष्ठ-22)
>
> "... इसके मुकाबले वे ऐसी बाधाओं और आपातकाल से जूझ रहे थे कि, जहाँ तक समाजवादी जनवाद का

> सवाल है, वे अक्सर ही उल्टी दिशा में जाते हुए दीखते थे। ये मुद्दे अतीत के मुकाबले कहीं अधिक एजेण्डे पर होंगे और कम्युनिस्टों को पार्टी और वर्ग तथा वर्ग और राज्य के संबन्धों के बारे में पुनः सोचना और पुनः परिभाषित करना होगा। उन्हें नयी परिस्थितियों में अगुआ दस्ते की भूमिका को पुनः पहचानना होगा जिससे कि भावी समाजवाद कम्युनिस्ट विजन की दिशा में वास्तव में आगे बढ़ सके।" (वही, पृष्ठ-22)
>
> "... समाजवाद के बारे में लोकप्रिय धारणा है कि यह जीवन के सभी क्षत्रों में व्यक्ति के उपर समूह के आम प्रभुत्व तथा और ज्यादा अनुशासन है जो समानता को बढ़ाता है और विविधता घटाता है।... इनकी जड़ें, आंशिक तौर पर बीसवीं सदी के समाजवाद में हैं।..." (वही, पृष्ठ-22)

अब सीधा सा सवाल यह है कि इनमें से कौन से सवाल हैं जिन्हें महान सर्वहारा संस्कृतिक क्रांति के दौरान नहीं उठाया गया और जिनका स्पष्ट और दृढ़ उत्तर नहीं दिया गया? इससे भी बढ़कर सवाल यह है कि आज छोटे-छोटे क्रांतिकारी संगठनों के पास वे कौन से व्यावहारिक अनुभव और नये तथ्य हैं जिनकी सहायता से इन सवालों पर पहले के मुकाबले नयी रोशनी डाली जा सकती है। स्पष्टतः कोई नहीं। यहां तक कि एकीकृत अखिल भारतीय पार्टी के पास भी ऐसा कोई अनुभव नहीं होगा कि इन सवालों पर कोई योगदान किया जा सके जब तक कि वह भारत में क्रांति कर समाजवाद के निर्माण को अपने हाथ में न ले ले। हमारा दृढ़ मत है कि केवल इसी तरीके से इन सवालों पर कोई नयी रोशनी डाली जा सकती है। इसके बिना माओ विचारधारा और महान सर्वहारा संस्कृतिक क्रांति ही हमारे लिए वह आधार है जिस पर हम खड़े हो सकते हैं। कहने की बात नहीं कि मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन-स्टालिन तो इस बारे में हमारी थाती हैं ही। लेकिन कुछ लोग हैं कि वे समाजवाद को "रीआर्टिकुलेट" करना चाहते हैं और इसीलिए समाजवाद के पूरे इतिहास को खुला सवाल बना रहे हैं, भले ही उनकी क्षमता एक प्रदेश व्यापी संगठन खड़ा करने की भी न हो। यह छेटा मुंह, बड़ी बात नहीं है, और न ही सूरज पर थूकना है। यह दरअसल उस कुंए में थूकना है जिसका पानी पीना है। और यह इसलिए कि उन्होंने अपने लिए नया कुआँ चुन लिया है जिससे वे पानी पी सकते हैं। बल्कि कहा जाय तो वे बुर्जुआ की गढ़यी में मेंढकों की तरह छपाक-छपाक करना चाहते हैं इसीलिए उन्हें सर्वहारा के इतनी मेहनत से बनाए गये कुओं में थूकने में कोई दिक्कत नहीं है। उन्होंने अपने सुधारवादी रास्ते की खातिर यह रास्ता चुना है।

बहुत सारे अन्य मामलों के साथ समाजवादी जनवाद के बारे में उनकी चीख-पुकार देखने योग्य है। अपने खुद के पेटी बुर्जुआ संशय को वे "लोकप्रिय धारणा" की शक्ल में पेश करते हैं। क्या यह सच नहीं है कि समाजवाद के विरोधियों ने हमेशा ही समाजवाद में जनवाद न होने की रट लगाई है। क्या खुश्चेव समेत सारे संशोधनवादी यहीं से नहीं शुरू करते रहे हैं। क्या उसने स्टालिन पर अपने आक्रमण की शुरूआत यहीं से नहीं की थी? क्या भारत के भी संशोधनवादी हो गये संगठन - CPI से शुरू करके — समाजवाद में जनवाद के सवाल से ही नहीं फिसलने शुरू हुए थे? मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन-स्टालिन और माओ के बाद क्या जनवाद के मामले पर सैद्धांतिक तौर पर कुछ और भी कहने की जरूरत है? यदि आपके पास कहने को कुछ है तो कहते क्यों नहीं? जरा हम भी सुनें। क्योंकि तब साफ पता चल जाएगा कि आपकी जनवाद की अवधारणा वही पेटी बुर्जुआ विभ्रम है जिसका पहले ही इतना भंडाफोड़ हो चुका है (देखें 'सर्वहारा क्रांति और गद्दार ख्रुश्चेव')।

हम इन सारे "खुले सवालों" के बारे में कुछ कहने की जरूरत भी नहीं समझते क्योंकि इन मामलों में कुछ भी कहना उन्हीं पुरानी सैद्धान्तिक बातों को दुहराना होगा जो खासतौर से सांस्कृतिक क्रांति के जमाने से आम हैं तथा जिन्हें "वैचारिक" तौर पर श्रीमान अरविन्द भी जानते हैं। बात सिर्फ इतनी सी है कि वे पुरानी प्रस्थापनाओं को छोड़ रहे हैं और नयी ग्रहण कर रहे हैं लेकिन उनकी यह खुलेआम कहने की हिम्मत नहीं है। वे इतने "खुले दिमाग" वाले और वैज्ञानिक "दृष्टिकोण" वाले नहीं हैं कि इसे खुल कर कह सकें।

आईये, अब जरा एक बानगी इसकी लें कि कैसे समाजवाद के इतिहास पर कीचड़ उछाला जाता है:

> "... आम तौर पर कहा जाये तो साफ तौर पर दिखाई देता है कि बीसवीं सदी में समाजवाद ने कठिन संकट के समयों जैसे, ग्रहयुद्ध, गरीबी, भुखमरी और अभाव की स्थिति तथा विश्व युद्ध में आश्चर्यजनक उपलब्धियां हासिल कीं। इसने पिछड़े, अशिक्षित, किसान समाजों को एक मध्यम तौर पर विकसित, शिक्षित, औद्योगिक-तकनीकी समाजों में परिवर्तित करने में चमत्कार दिखाया। लेकिन उसके बाद की यात्रा में वह उसी तरह सफल नहीं हुआ। वस्तुतः इस मामले में कुछ बहुत बड़ी असफलताएं थीं जो समाजवादी राज्य और अर्थव्यवस्था के अंततः ध्वंस (collapse) और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना से असंबंधित नहीं है। आर्थिक और तकनीकी क्षेत्र में, जीवन स्तर तथा शिक्षा और

संस्कृति में एक मध्यम स्तर के विकास से आगे नयी पद्धतियों के आविष्कार, वृद्धि और विकास को वह बनाए नहीं रख सका तथा हालांकि वह पूंजीवाद के मुकाबले एक ज्यादा बराबरी वाला और न्यायपूर्ण समाज था, वह इन क्षेत्रों में पूंजीवाद से प्रतियोगिता नहीं कर पाया।" (वही, पृष्ठ-21)

बहुत साफ-साफ कहें तो यह शब्दशः वह बात है जो "मंथली रिव्यू" के बुर्जुआ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी एक अर्से से दुहराते रहे हैं और जो खालिस बुर्जुआ प्रचार से केवल इस मामले में भिन्न है कि यह समाजवाद की कुछ उपलब्धियों को भी स्वीकार करता है। अन्यथा बुर्जुआ वर्ग तो यह प्रचारित करता ही रहा है कि विकास इत्यादि में समाजवाद पूंजीवाद से प्रतियोगिता नहीं कर पाया इसीलिए पूंजीवाद समाजवाद से अच्छा है अब श्रीमान अरविन्द और उनका संगठन खुद ही तय करें कि वे कहां से प्रस्थान कर रहे हैं - बुर्जुआ प्रचार से, "मंथली रिव्यू" के बुर्जुआ मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के प्रचार से या अपनी खुद की सुधारवादी प्रेरणाओं से? हमारा मानना है कि तीनों में कोई फर्क नहीं है। वे तीनों एक दूसरे को खुराक पहुँचाते हैं।

आइये, अब इस कथन के सारतत्व को लें। इसमें कहा गया है कि समाजवाद ने संकट में तो अच्छा काम किया, एक हद तक विकास भी किया लेकिन दूरगामी तौर पर पूंजीवाद से प्रतियोगिता नहीं कर पाया। हमारा कहना है कि यह सही नहीं है। यह तथ्यतः गलत है। इस कथन को तथ्यतः तभी सही माना जा सकता है जब 1956 के बाद के रूस को और 1976 के बाद के चीन को समाजवादी माना जाय, अन्यथा नहीं। और यदि कोई इन्हें समाजवादी मान लेता है तो हमें कुछ नहीं कहना है क्योंकि तब वह स्वतः ही ख्रुश्चेवपंथी और डेंगपंथी साबित हो जाता है (वैसे हम बाद में देखेंगे कि श्रीमान अरविन्द और उनके संगठन पर डेंगवाद के कुछ छींटे पड़ चुके हैं)।

रूस और चीन बीसवीं सदी के समाजवाद के प्रातिनिधिक मॉडल रहे हैं (समाजवादी मॉडल की सारी बातें ज्यादातर इन्हीं के संदर्भ में होती हैं)। हम जानते हैं कि क्रांति के बाद से ही रूस एक के बाद एक संकटों से जूझता रहा। शांतिपूर्वक विकास का उसे बहुत कम समय मिला। लेकिन इस समय में भी इसकी विकास की दर बहुत तेज थी जितनी पूंजीवादी दुनिया में कभी नहीं रही। 1956 तक भी यह दर कम नहीं हुई थी। इसी के बल पर ख्रुश्चेव ने संयुक्त राष्ट्र संघ में मेज पर अपना जूता पटका था। इसी तरह 1976 तक चीन की गति काफी तेज थी। वह कहीं से भी पूंजीवाद के साथ प्रतियोगिता में नहीं पिछड़ रहा था। फिर यह थीसिस कहां से आयी? निश्चय ही यह पूर्वी यूरोप व सोवियत संघ के 1956 के बाद के इतिहास पर आधारित है। लेकिन तब तो ये देश समाजवादी रहे नहीं। फिर उनको आधार बनाकर समाजवाद को लांछित करना क्या कुटिल चाल नहीं है? या कि श्रीमान अरविन्द कम्पनी ख्रुश्चेवपंथी/डेंगपंथी हो गये हैं?

हमारी बात इससे भी साबित होती है कि उपरोक्त उद्धरण में समाजवादी राज्य व अर्थव्यवस्था के ध्वंस (collapse) की बात आई है? किस समाजवादी राज्य या अर्थव्यवस्था का ध्वंस हुआ? निश्चय ही 1956 तक किसी का नहीं। 1976 तक चीन का भी नहीं। फिर यह बात किसके संदर्भ में कही गयी है? निश्चय ही इशारा 1989 के पूर्वी यूरोप और 1991 के सोवियत संघ के ध्वंस की ओर है। लेकिन वे कब से समाजवादी हो गये? सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत संघ और उसके उपग्रह कब से समाजवादी हो गये? क्या साफ नहीं है कि या तो आप ख्रुश्चेवपंथी/डेंगपंथी हो गये हैं या फिर अपने सुधारवाद के वशीभूत जान बूझकर समाजवाद पर कीचड़ उछाल रहे हैं।

विभ्रम फैलाने और अपनी सुधारवादी प्रस्थापनाओं को चुपके से घुसाने का एक अच्छा प्रयास इन्होंने तीसरी दुनिया में समाजवाद के निर्माण के संबंध में किया है। यहां वे किसी "मानक मॉडल" के न होने से बात शुरू करते हैं और वहां खत्म करते हैं जहां डेंग और उनके अनुयाइयों को कोई आपत्ति नहीं होगी बल्कि खुशी ही होगी।

> "... जटिलता यह है कि कोई मानक समाजवादी मॉडल नहीं है जिससे कि पूंजीवाद को प्रतिस्थापित कर दिया जाय।..." (वही, पृष्ठ-27)

और भी आगे बढ़कर यह कि

> "... केवल बीसवीं सदी की क्रांतियों के मॉडल के आधार पर क्रांति की वास्तविक रणनीति तैयार करना अब संभव नहीं रह गया है।..." (वही, पृष्ठ-29)

> "... बीसवीं सदी में समाजवाद के द्वारा ग्रहण किए गये वास्तविक रास्ते ने उन सारे सवालों को हल नहीं किया है कि पिछड़े पूंजीवाद की वास्तविकता से कैसे निपटा जाय और ऐसी स्थितियों में समाजवाद का निर्माण कैसे किया जाय।..." (वही, पृष्ठ 17-18)

तो फिर समाधान क्या है? वह यह है:

> "... तथाकथित विकासशील देशों की स्थितियों में पूंजी से लड़ने की रणनीति निश्चित तौर पर प्रभावित होती है। हालांकि पूंजी पर हमला किया जाना है तथा औद्योगिकरण, वृद्धि और उत्पादक शक्तियों के विकास की उन स्थितियों में गम्भीर चुनौती होगी जो पूर्ण विकसित समाजवादी योजना और तरीकों के लिए आम तौर पर स्वीकृत परिपक्व स्थितियां नहीं है। बाजार और कुछ निश्चित प्रकार की पूंजी उत्तर क्रांतिकारी समय के शुरूआती दौर में कुछ भूमिका अदा करते रहेंगे।... ये इन देशों में क्रांति का नेतृत्व करने वाली कम्युनिस्ट पार्टियों से बहुत ज्यादा लचीलेपन और बुद्धिमत्ता की मांग करेंगे।" (वही, पृष्ठ-27)

हमारा कहना है कि ये पिछड़े देशों में समाजवादी मॉडल की हमारी समझदारी (मसलन 1949-76 के चीनी माडल) में रत्ती भर भी इजाफा नहीं करते। इसके बदले वे छेद छोड़ देते हैं जिसमें से डेंगवादी हाथी को आसानी से निकाला जा सकता है। "बाजार और कुछ निश्चित प्रकार की पूंजी उत्तर क्रांतिकारी समय के शुरूआती दौर में कुछ भूमिका अदा करते रहेंगे।" इसका क्या अर्थ है? यदि इसका वही अर्थ है जो माओ के समय में था तो इस "नयी समझ" को प्रस्तुत करने की क्या तुक है और वह भी इसे "खुला सवाल" बनाकर और यदि इसका वह अर्थ नहीं है तो श्रीमान अरविन्द एण्ड कम्पनी हमें समझाएं कि डेंगवाद के अलावा इसका क्या अर्थ हो सकता है? क्या चीन में आज डेंगपंथी अपने "बाजार समाजवाद" के नाम पर यही नहीं कर रहे हैं। क्या उनका भी यही कहना नहीं है कि पिछड़ी उत्पादक शक्तियों के कारण चीन की वर्तमान स्थिति 50 साल या इससे ज्यादा तक चलती रहेगी? क्या वे भी "बाजार और निश्चित प्रकार" की पूंजी की भूमिका अपने "चीनी प्रकार के समाजवाद" में नहीं बना रहे हैं?

जैसा कि हमने कहा था, श्रीमान अरविन्द एण्ड कम्पनी पर डेंगवाद के छींटें पड़ चुके हैं। इसी की बानगी है, उपरोक्त बेमिसाल समझ जो पिछड़े देश में समाजवाद का "नया" मॉडल प्रस्तुत करती है। वैसे भी समाजवाद के "मानक मॉडल" का सवाल हमेशा कौन उठाता रहा है? क्या चीन में डेंगपंथियों ने ही यह सवाल नहीं उठाया? माओ और उनके अनुयायी तो पेरिस कम्यून और रूसी अनुभव से सीखने की ही बात कर रहे थे। भारत में भी डेंग के अनुयायी विनोद मिश्र एण्ड कम्पनी ही "मानक मॉडल" के न होने की बात नहीं करते रहे हैं? अपनी पहले की अवस्थिति की छोड़ते हुए विनोद मिश्र एण्ड कम्पनी ने अपनी चौथी, पांचवीं व छठीं कांग्रेसों में यही "मानक मॉडल" न होने वाली बात क्या नहीं दुहराई?

वैसे यहां एक बात और गौर करने की है। अभी तक ज्यादातर छिद्रान्वेषी पुराने मॉडलों की अपर्याप्तता की बात करते थे। लेकिन ये लोग एक और कदम आगे जाकर बात करते हैं। "केवल बीसवीं सदी की क्रांतियों के मॉडल के आधार पर क्रांति की वास्तविक रणनीति तैयार करना अब संभव नहीं रह गया है।" फिर क्या किया जाय? कोई और क्रांतियां तो हुयी नहीं। मार्क्स से लेकर माओ तक की रचनाएं पहले ही आपके लिए अपर्याप्त हैं क्योंकि उन्हीं का तो व्यवहार थी क्रांतियां। फिर आप कहां जायेंगे? नहीं आपके लिए जगह है जाने की। बुर्जुआ वर्ग के पास ऐसे जादुई नुस्खों का ढेर है जो आप जैसे पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवियों को बहुत ज्यादा व्यावहारिक और बहुत ज्यादा यथार्थ लग सकता है और "मंथली रिव्यू" या "न्यू लेफ्ट" जैसे बुर्जुआ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी हैं ही उसे आपके लिए मार्क्सवादी शब्दावली में प्रस्तुत कर सुपाच्य बनाने के लिए।

यह अकारण नहीं है कि श्रीमान अरविन्द एण्ड कम्पनी भाकपा (माले) लिबरेशन को महज दक्षिणपंथी भटकाव का शिकार मानती है (और वह भी उसी सांस में जिसमें वह PWG व MCC को वाम दुस्साहसवादी विचलन का शिकार मानती है):

> "... दूसरी ओर, CPI (ML) लिबरेशन दक्षिणपंथी भटकाव से ज्यादा ग्रस्त है।..." (वही, पृष्ठ-84)

यहां यह ध्यान रखने की बात है कि 1988 में ही, जब विनोद मिश्र के संशोधनवाद ने अपना रंग खुल कर दिखाया ही था, तभी **कम्युनिस्ट** अंक-1 में (तत्कालीन एकीकृत CLI का मुख पत्र) विनोद मिश्र एण्ड कम्पनी

की धज्जियां उड़ाते हुए "सतरंगा समाजवाद : विनोद मिश्र की विचारधारात्मक जादूगरी के करिश्मे" नामक लेख निकला था। श्रीमान अरविन्द तब उस लेख को अपहोल्ड करते थे। लेकिन आज वे उसी जादूगर के उत्तराधिकारी संगठन को महज़ दक्षिणपंथी भटकाव का शिकार मानते हैं। जबकि इस बीच विनोद मिश्र एण्ड कम्पनी के मामले में, कहा जाय तो, गंगा-जमुना में बहुत पानी बह चुका है। यह संगठन गले तक संसदवाद में डूब गया है। डेंगवादी विनोद मिश्र एण्ड कम्पनी के प्रति यह अवसरवादी रूख वस्तुतः श्रीमान अरविन्द एण्ड कम्पनी के अपने अवसरवादी विचलन का परिणाम है।

समाजवाद और अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन पर कीचड़ उछालने का एक और प्रयास है यह सामान्य टिप्पणी जो पूरे अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन पर की गई है:

> "... पिछले चार-पांच दशकों में अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन कठिनाईयों का शिकार रहा है। जबकि विश्व पूंजीवाद ने नयी-नयी चुनौतियां खड़ी कीं, समाजवाद जैसा कि वह था, कठिन समय में फंस गया, बिखर गया, कमजोर हो गया और अधिकांशतः प्रदूषित अंतराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन इन ऐतिहासिक चुनौतियों का सामना करने में अक्षम साबित हुआ" (वही, पृष्ठ-35)

क्या अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के पिछले पचास साल के इतिहास को, उसकी कठिनाइयों को प्रस्तुत करने का यही तरीका है? यह तरीका न केवल स्वच्छंद गैर-जिम्मेदार बुद्धिजीवी का है, बल्कि इस पूरे पैराग्राफ का कोई अर्थ नहीं निकलेगा जब तक 1956 के बाद रूस व पूर्वी यूरोप को तथा 1976 के बाद के चीन को, साथ ही इनमें शासन करने वाली संशोधनवादी पार्टियों को भी कम्युनिस्ट न मान लिया जाय?

यह जो शब्दावली है "समाजवाद जैसा कि वह था", उसका क्या अर्थ है? इसका इसके सिवाय क्या अर्थ हो सकता है कि संशोधनवादी सत्ताओं को भी समाजवादी मान लिया जाए? सच बात तो यह है कि इस शब्दावली का इस्तेमाल करने वाले बुर्जुआ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी उसका इसी अर्थ में इस्तेमाल करते हैं। वे तो इन संशोधनवादी सत्ताओं को भी स्टालिनकालीन या माओकालीन समाजवाद की तरह ही मानते हैं - "समाजवाद, जैसा कि वह था"। लेकिन क्या आप भी वही मानते हैं। और आप यदि यह अर्थ नहीं लगाते तो आगे जो आपने कहा - "समाजवाद ... कठिन समय में फंस गया, बिखर गया, कमजोर हो गया" उसका क्या अर्थ है? समाजवाद कब "कठिन समय में फंस गया और बिखर गया"? समाजवाद "कठिन समय" में फंसा नहीं और "बिखरा" नहीं बल्कि हुआ यूं कि चीन व अल्बानिया को छोड़कर 1956 के आस-पास संशोधनवादी इनमें हावी हो गये और उन्होंने समाजवाद को खत्म कर राजकीय पूंजीवाद इन देशों में कायम कर दिया। यह सीधी सी और चिर स्थापित बात आप क्यों नहीं करते।

इसी तरह "अधिकांशतः" प्रदूषित कम्युनिस्ट आंदोलन का क्या अर्थ है। यदि "प्रदूषण" का अर्थ ख्रुश्चेवी और डेंगपंथी संशोधनवाद है तो कम्युनिस्ट आंदोलन इससे "प्रदूषित" होने के बाद माओ के संघर्ष के द्वारा इससे मुक्त हो गया और क्रांतिकारी कम्युनिस्ट इससे आज भी मुक्त हैं (आप जैसे लोग भले ही आज उस कोलतार को अपने चेहरे पर पोतने के लिए उत्सुक हों!)। फिर "प्रदूषण" कहां है? वह है यदि ख्रुश्चेवपंथी सोवियतपार्टी, डेंगपंथी चीनी पार्टी व अपने CPI, CPM तथा लिबरेशन को भी अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन का हिस्सा मान लिया जाए। लेकिन आपका यह मानना केवल आपको ख्रुश्चेवपंथी व डेंगपंथी ही साबित करेगा।

कुल मिलाकर समाजवाद के इतिहास पर ये सारे सवाल, सभी तय सवालों को खुला घोषित करना, "मॉडल" का सवाल तथा समाजवाद को पुनः "आर्टिकुलेट" करने की ये सारी बातें सर्वहारा विचारधारा से बहुत चिंताजनक विचलन की अभिव्यक्तियां हैं। यह "रूढ़िवाद" बनाम वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मामला नहीं, जैसा कि श्रीमान अरविन्द कहना चाहेंगे। यह वस्तुतः मार्क्सवाद का परित्याग है। ऐसे में हम लेनिन की तरह ही कहेंगे कि हाँ, हम "रूढ़िवादी मार्क्सवादी" हैं, स्त्रूवेवादी नहीं।

श्रीमान अरविन्द और उनके संगठन का यह चिंताजनक विचारधारात्मक विचलन अपने को रणनीति और रणकौशल के सवालों में भी अभिव्यक्त करता है और यह लाजिमी भी है। आइये देखें, यह कैसे होता है।

II

साम्राज्यवाद : सान्ता क्लाज के भेष में

श्रीमान अरविन्द साम्राज्यवाद के बारे में अपनी "नयी" अवधारणा को, "साम्राज्यवाद की नयी कार्य प्रणाली" की अपनी अवधारणा को पिछले तीन-चार सालों से लगातार इस या उस रूप में प्रस्तुत करते रहे हैं। इस "नयी" अवधारणा की खासियत यह है कि यह साम्राज्यवाद को बहुत अच्छी रोशनी में पेश करता है, यह उसके खूनी चरित्र को आंखों से ओझल करता है, सारी दुनिया पर प्रभुत्व जमाने की उसकी इच्छा और प्रयास पर पर्दा डालता है, यह तीसरी दुनिया के मामले में उसकी "सान्ता क्लाज" की भूमिका प्रचारित करता है तथा साम्राज्यवादियों के आपसी अंतर्विरोधों को बहुत कम करके प्रस्तुत करता है। वह यहां तक जाता है कि साम्राज्यवादी लूट को "आम पूंजीवादी शोषण" की हद तक सीमित कर देता है।

यह सारी "नयी" अवधारणा मूलतः इस बिन्दु से शुरू होती है कि साम्राज्यवादी पूंजी आज "राष्ट्रपारी" हो गयी है और इसी कारण इसका हित तीसरी दुनिया में पूंजीवादी विकास में, साम्राज्यवादियों के अंतर्विरोधों को सीमित रखने तथा तीसरी दुनिया का केवल आर्थिक शोषण करने में है, उस पर राजनीतिक या आर्थिक प्रभुत्व जमाने में नहीं।

इस शताब्दी के शुरू में काउत्सकी द्वारा प्रस्तुत की गई इस अवधारणा का प्रस्थान बिंदु कुछ वे प्रतीयमान तथ्य हैं जिनका साम्राज्यवाद के वास्तविक चरित्र से कोई लेना-देना नहीं है या साम्राज्यवाद के चरित्र निर्धारण में उनकी भूमिका बहुत कम है। सिद्धान्तः देखा जाए तो यह एक अंश को फैलाकर सम्पूर्ण बना देने की गलती है तथा साथ ही आज के तात्कालिक, प्रतीयमान सत्य को वास्तविक, दीर्घकालिक प्रवृत्ति मान लेना है। जैसा कि हम जानते हैं, यह महज सैद्धान्तिक चूक नहीं है, बल्कि यह एक मुकम्मल सोच का परिणाम है जिसका सारतत्व है सुधारवाद या सुधारवाद को प्रश्रय।

आइये देखें कि इन दस्तावेजों में क्या कहा गया है:

> "पिछले दो दशकों के दौरान इस नयी कार्यप्रणाली के मूलभूत तत्व स्थापित हो गए हैं और वैश्विक अर्थव्यवस्था और राजनीति में इसकी मुख्य विशेषताएं दृष्टिगोचर हैं। इस नये दौर को **पूंजी के वैश्वीकरण** का दौर कहा जा सकता है।" (वही, पृष्ठ-5, जोर मूल में)।

तो यह है बात! हम एक नये दौर में, "पूंजी के वैश्वीकरण' के दौर में प्रवेश कर गए हैं। लेकिन पहले तो श्रीमान अरविन्द इसे 'आर्थिक नव उपनिवेशवाद' का दौर कहते थे। आर्थिक नव उपनिवेशवाद का यह दौर **पूंजी के वैश्वीकरण** के दौर में कब रुपान्तरित हो गया। हम यह जानते हैं कि 1992 के तीसरे सम्मेलन के दस्तावेजों में यह शब्द 'आर्थिक नव उपनिवेशवाद' गायब है। यानि तभी ही उन्होंने चुपके से इससे किनाराकशी कर ली थी। जब हम तब के गम्भीर विचलनों की बात कर रहे थे तो उनमें से एक यह बात भी थी। लेकिन तब उपरोक्त शब्द के न होने के बावजूद बातें मोटा-मोटी वही थीं जो 1987 में दूसरी कान्फ्रेंस द्वारा स्वीकृत लाल तारा-3 में थीं। हालांकि 'साम्राज्यवाद की नयी कार्यप्रणाली' की चर्चा दबे जुबान 1992 में भी है, लेकिन अभी यह खुलकर **पूंजी के वैश्वीकरण** के दौर तक नहीं पहुंची है। पुराने पारिभाषिक शब्द से चुपके से किनाराकशी और अब एक नए पारिभाषिक शब्द का इस्तेमाल (जो वस्तुतः साम्राज्यवादी बुर्जुआ द्वारा गढ़ा गया और साम्राज्यवादी हितों के लिए प्रचारित है) यूं ही नहीं है, इसके पीछे साम्राज्यवाद के बारे में सोच में 180 डिग्री का बदलाव छिपा हुआ है।

साम्राज्यवाद की इस 'नई कार्यप्रणाली' का श्रीमान अरविन्द की नजर में आधार क्या है? वह यह है:

> "द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के काल में और खासकर 1950-73 के दौरान, पश्चिमी पूंजीवाद की लम्बी तेजी के काल में, राष्ट्रपारी कम्पनियों की परिघटना पैदा हुई, जो बहुत बड़ी पूंजी की मालिक होती हैं और जो वैश्विक स्तर पर काम करती हैं। और भी बाद में, पिछले दो दशकों के दौरान, इस पूंजी का मालिकाना लगातार बहुराष्ट्रीय होता गया है। पूंजी का यह बड़ा जखीरा न केवल राष्ट्रों की सीमाओं से परे काम करता है, बल्कि इसके मालिक भी कई राष्ट्रों के होते हैं।..." (वही, पृष्ठ 6-7)।

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, उपरोक्त बातों में केवल आंशिक सच्चाई है। साम्राज्यवादी पूंजी के

बारे में यह केवल आंशिक सत्य है, और वह भी जो प्रधान भूमिका अदा नहीं कर रहा है। राष्ट्रपारी कम्पनियों की परिघटना द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद नहीं पैदा हुई वह पिछली शताब्दी की शुरूआत में ही पैदा हो गयी थी। तभी ही साम्राज्यवादी पूंजी कई देशों में काम करती थी और उसका मालिकाना भी "कई देशों" में होता था। इसके रूप में फर्क हो सकता है। लेकिन तब भी इसने प्रथम विश्वयुद्ध व द्वितीय विश्वयुद्ध को पैदा होने से नहीं रोका। ज्यादा से ज्यादा यह कहा जा सकता है कि "राष्ट्रपारी" पूंजी की इस परिघटना ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद और जोर पकड़ा। लेकिन यह बात गलत है कि वह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पैदा हुई और उसके पहले वह नहीं थी। यह या तो रूप को अंतर्वस्तु पर प्रधानता देने का परिणाम है या फिर वह जादूगरी जिसके जरिए "साम्राज्यवाद की नई कार्यप्रणाली" को स्थापित किया जा सकता है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि आज भी राष्ट्रपारी कम्पनियों का ज्यादातर मालिकाना "राष्ट्रीय" है, "राष्ट्रपारी" नहीं। जनरल मोटर्स आज भी अमेरिकी कम्पनी है जैसे टोयोटा जापानी। मालिकाना "राष्ट्रपारी" हो रहा है, लेकिन आज भी वह निर्णायक कारक नहीं है। आज भी निर्णायक कारक राष्ट्रीय मालिकाना ही है। बिल क्लिंटन सारी दुनिया में अमेरिकी साम्राज्यवादी पूंजी के नुमाइंदे की हैसियत से घूमता है, उसी तरह जैसे याशितो मोरी जापानी साम्राज्यवादी पूंजी के नुमाइंदे की हैसियत से। वे "राष्ट्रपारी" पूंजी के लिए भारत नहीं आते।

ज्यादा अच्छा होता कि श्रीमान अरविंद इस मामले में ठोस आंकड़े उपलब्ध कराते। ज्यादा नहीं तो वे दुनिया के कुछ सबसे बड़े "राष्ट्रपारी" निगमों का ही उदाहरण लेकर दिखाते कि इनका मालिकाना कैसे "राष्ट्रपारी" हुआ है? कितने जापानी लोग अमेरिकी कम्पनियों के निदेशक मंडल में बैठते हैं और कितने अमेरिकी जापानी कम्पनियों के? तब वास्तव में श्रीमाम अरविंद को पता चलता कि वे वस्तुतः तिल का ताड़ बना रहे हैं।

वैसे मालिकाने के सवाल पर भी सही मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाने की जरूरत है। क्या कुछ शेयर पूंजी का मालिक हो जाना ही "मालिकाना" है, उन अर्थों में जिसमें हम यहां बात कर रहे हैं, यानि राष्ट्रीय से राष्ट्रपारी हित का समर्थक हो जाने के बारे में? या मालिकाने का वास्तविक अर्थ तभी है जब संबंधित कंपनी की पूंजी को नियंत्रित करने की कुछ हैसियत प्राप्त हो जाए? क्या अपनी ही कम्पनी के कुछ शेयर खरीदने वाले मजदूर को कम्पनी का मालिक कहा जा सकता है? यदि नहीं तो उसका हित किससे तय होगा - अपनी मजदूर की स्थिति से या कुछ शेयरों के मालिक की स्थिति से?

बात इससे भी आगे की है। चलिए यह मान लेते हैं कि साम्राज्यवादी पूंजी "राष्ट्रपारी" हो गई है। उसका वही चरित्र प्रधान हो गया है। ऐसी स्थिति में क्या होगा? इस "राष्ट्रपारी" पूंजी के हित में यह क्यों नहीं होगा कि वह आपस में मिलकर एक विश्व साम्राज्यवादी सरकार बना ले और और फिर यह साम्राज्यवादियों की सामूहिक सरकार तीसरी दुनिया के देशों को अपना उपनिवेश बना ले या कम से कम उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता को अति सीमित कर नाममात्र की बना दे? बल्कि आपका कुल तर्क यहीं पहुंचना चाहिए कि साम्राज्यवादी मिलकर अपनी सामूहिक सरकार बना लेंगे। आपकी नजर में "पूंजी के तर्क" के कारण उन्हें हो ही जाना चाहिए। फिर वे क्यों नहीं तीसरी दुनिया पर राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करना चाहेंगे? यदि हम लेनिन की इस बात को मानते हैं कि इज़ारेदार पूंजी स्वतंत्रता नहीं आधिपत्य चाहती है तो यह साम्राज्यवादी सामूहिक सरकार क्यों नहीं तीसरी दुनिया को फिर अपना उपनिवेश बना लेगी? पहले यदि अलग-अलग साम्राज्यवादी देशों ने अलग-अलग उपनिवेश बनाए थे तो वे आज "राष्ट्रपारी" पूंजी द्वारा एक सूत्र में बंधे क्यों नहीं सामूहिक रूप से तीसरी दुनिया के सभी देशों को सामूहिक उपनिवेश बना लेंगे। "राष्ट्रपारी" की आपकी अवधारणा कैसे इस बात को खंडित करती है?

कहने की बात यह कि यदि लेनिन की बात को मानकर चला जाए तो यह "राष्ट्रपारी" होती पूंजी कहीं से भी यह साबित नहीं करती कि वह तीसरी दुनिया पर राजनीतिक या सामरिक आधिपत्य नहीं करना चाहेगी। यह कहीं से भी साबित नहीं होता कि "राष्ट्रपारी" हो जाने के कारण इसका राजनीतिक आधिपत्य कायम रखने का चरित्र खत्म हो गया है।

इससे यह बात साफ है कि "राष्ट्रपारी" का यह सारा बवंडर मूलतः इजारेदार पूंजी के प्रभुत्ववादी चरित्र

पर पर्दा डालने के लिए खड़ा किया जा रहा है। फिर श्रीमान अरविंद खुलकर क्यों नहीं कहते कि अब इजारेदार पूंजी का चरित्र बदल गया है? वह प्रभुत्ववादी से, "प्रतियोगितावादी" या समतावादी हो गयी है। या फिर क्या वे यह कहना चाहते हैं कि "राष्ट्रपारी" पूंजी इजारेदार पूंजी नहीं है?

वस्तुतः बात यही है कि श्रीमान अरविंद एण्ड कम्पनी की नजर में साम्राज्यवादी पूंजी का चरित्र बदल गया है। वह अब प्रभुत्ववादी चरित्र नहीं रखती। राजनीतिक या सामरिक प्रभुत्व की बात तो कौन कहे, वह तो आर्थिक प्रभुत्व भी नहीं कायम करना चाहती (आर्थिक नव उपनिवेशवाद शब्द से किनाराकशी इसी सोच का परिणाम है)। आगे हम देखेंगे कि वे साफ-साफ कहते हैं कि साम्राज्यवाद अब अधिकाधिक आम पूंजीवादी शोषण का रूप लेता जा रहा है। तब फिर साम्राज्यवाद का क्या बच रहता है, सिवाय नाम के?

साम्राज्यवाद का आज तीसरी दुनिया से क्या संबंध है? वह यूं है:

"औपनिवेशिक दौर में **साम्राज्यवाद ने उपनिवेशों में पूंजीवाद के विकास को बाधित किया...**" (वही, पृष्ठ 5, जोर हमारा)

"साम्राज्यवाद के उत्तर औपनिवेशिक काल में साम्राज्यवाद के लिए अब यह न तो संभव है और न ही अपेक्षित कि वह किसी तीसरी दुनिया के देश की अर्थव्यवस्था को किसी एक साम्राज्यवादी देश से नत्थी कर दे।..." (वही, पृष्ठ 5)

"यह बात समझी जा सकती है कि यह पूंजी एक या किसी दूसरे साम्राज्यवादी देश द्वारा **तीसरी दुनिया के देशों की राजनीतिक अधीनता की इच्छुक** नहीं है और न ही इसका हित इस बात में है कि तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं को इस या उस विकसित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का उपांग मात्र बना दिया जाए। इसका हित तीसरी दुनिया के देशों को वैश्विक अर्थव्यवस्था में एकाकार करने और तीसरी दुनिया में पूंजीवाद की सुरक्षा और स्थिरता में है।...." (वही, पृष्ठ 7, जोर हमारा)

"सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि साम्राज्यवाद अपने वर्तमान दौर में, खासकर वैश्विक पूंजी, इस बात की इच्छुक है और वस्तुतः तो उसका बहुत कुछ दांव पर है कि तीसरी दुनिया में पूंजीवाद का विकास हो..." (वही, पृष्ठ-8, जोर हमारा)

"औपनिवेशिक दौर में साम्राज्यवाद इन समाजों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष उपनिवेशवाद के जरिए शासन करता था। उस काल में उसने इन अर्थव्यवस्थाओं को साम्राज्यवादी पूंजी के उपांग के रूप में बदलने की नीति का अनुसरण किया, **जिसने उस समय, उपनिवेशों में पूंजीवादी विकास में बाधा पैदा करने** की जरूरत पैदा की।... अपनी भी कार्यप्रणाली में साम्राज्यवाद का **तीसरी दुनिया के समाजों में पूंजीवादी विकास में काफी कुछ दांव पर** है और इस आधार पर वह इन अर्थव्यवस्थाओं को वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था में और ज्यादा एकाकार कर रहा है।..." (वही, पृष्ठ-13)

"...अपने इस दौर में साम्राज्यवाद तीसरी दुनिया की पूंजी की अपनी जमीन पर प्रधानता को स्वीकार कर रहा है, इस शर्त के साथ कि वह वैश्विक पूंजीवाद के नियमों का पालन करो..." (वही, पृष्ठ-8)

"...इस दौर में उनके हितों का संगम रणनीतिक महत्व प्राप्त कर चुका है जबकि उनके बीच का टकराव रणकौशलात्मक स्तर तक सीमित हो गया है।..." (वही, पृष्ठ-8)

उपरोक्त बातों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें साम्राज्यवाद और तीसरी दुनिया के बीच के संबंधों में प्रभुत्व की चर्चा कहीं नहीं है। इसमें साम्राज्यवाद द्वारा तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं के विकास करने की, उनको अपने में एकाकार करने की चर्चा तो है परन्तु प्रभुत्व की नहीं। अलबत्ता इस बात को जरूर रेखांकित किया गया है कि "वैश्विक पूंजी एक या किसी दूसरे साम्राज्यवादी देश द्वारा तीसरी दुनिया के देशों की राजनीतिक अधीनता की इच्छुक नहीं है"। लेकिन ऐसा क्यों है? यह तो कहा जा सकता है कि कोई एक या दूसरा साम्राज्यवादी देश किसी एक या दूसरे देश को अपना 'अकेले का' उपनिवेश न बनाए। यह सबके सामूहिक हितों के खिलाफ कहा जा सकता है। लेकिन सारे साम्राज्यवादी देश मिलकर क्यों नहीं समूची तीसरी दुनिया को सामूहिक उपनिवेश बना लेते? क्या चीज उन्हें ऐसा करने से रोकती है। यदि श्रीमान अरविंद की बात मानी जाए तो वैश्विक पूंजी इसकी "इच्छुक" नहीं है। लेकिन क्यों? क्यों उसकी आमतौर पर प्रभुत्व की और खासतौर पर राजनीतिक प्रभुत्व की इच्छा खत्म हो गयी है? श्रीमान अरविंद के तर्कों का एक ही अर्थ निकलता है कि साम्राज्यवादी पूंजी का अब चरित्र बदल गया है। उसका प्रभुत्ववादी चरित्र खत्म हो गया है। अब वह आमतौर पर प्रभुत्व की और खास तौर पर राजनीतिक प्रभुत्व की इच्छा नहीं रखती। वह तो सान्ता क्लाज बन गई है जो चुपके-चुपके तीसरी दुनिया के देशों में "विकास" की सोने की छड़ें डालेगी। शायद

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक को भी यह बात इसी रूप में कहने की जुर्रत नहीं हो। वे भी कभी-कभार तीसरी दुनिया में "वैश्विक पूंजी" के हानिकारक प्रभावों की चर्चा करते हैं। लेकिन श्रीमान अरविंद की दृष्टि में तो वह कहीं है ही नहीं।

साम्राज्यवाद के तीसरी दुनिया के देशों की राजनीतिक पराधीनता के "इच्छुक" न होने की बात सरासर गलत है। असल बात यह है कि अब यह साम्राज्यवादी देशों के लिए संभव नहीं है कि वे तीसरी दुनिया के देशों को राजनीतिक तौर पर पराधीन बना लें। सैनिक आक्रमण करके वे किसी देश पर कब्ज़ा तो कर सकते हैं लेकिन उस कब्जे को बनाए रखना उनके लिए संभव नहीं होगा। ऐसा कब्जा होने की स्थिति में पराधीन देश की जनता की ओर से साम्राज्यवाद का जो प्रतिरोध होगा वह समूची साम्राज्यवादी व्यवस्था के लिए भीषण खतरा बन जाएगा। साम्राज्यवादी इस बात को जानते हैं। उन्होंने वियतनाम से बहुत अच्छी तरह सीख ली है। इसी कारण इराक को सामरिक और आर्थिक तौर पर ध्वस्त करने के बाद भी वे उस पर राजनीतिक कब्जा करने की नहीं सोचते। संक्षेप में कहें तो यह, "इच्छा" का नहीं बेहद मजबूरी का मामला है।

यहां यह बात जोर देकर रेखांकित करने की जरूरत है कि साम्राज्यवाद की सामरिक और राजनीतिक प्रभुत्व की आकांक्षाएं खत्म नहीं हुई हैं। अभी पिछले दिनों कोसोवो में जो कुछ हुआ वह इसका जीता जागता प्रमाण है जब कोसोवो को पांच हिस्सों में बांटकर पांच साम्राज्यवादी देशों ने अपनी-अपनी सेनाएं उन हिस्सों में रख दीं। हथियारों के विशाल जखीरों से लेकर, दुनिया भर में फैले हुए सारे सैनिक अड्डे और नाटो जैसे सैनिक ब्लाक सलामी गारद के लिए नहीं रखे गए हैं। वे हिंसा के वे हथियार हैं, जिनका साम्राज्यवाद प्रयोग करना चाहता है और करता है। बात केवल इतनी है कि वह चाहकर भी तीसरी दुनिया के देशों को राजनीतिक तौर पर अधीन बनाने में इनका इस्तेमाल नहीं कर सकता। अब प्रत्यक्ष या परोक्ष तौर पर इन पर राजनीतिक पराधीनता थोपना संभव नहीं है। अब राजनीतिक स्वाधीनता को केवल सीमित किया जा सकता है और साम्राज्यवाद इसे करने का हरदम प्रयास करता रहता है।

साम्राज्यवाद तीसरी दुनिया के देशों पर राजनीतिक-आर्थिक तौर पर प्रभुत्व जमाना चाहता है लेकिन वह राजनीतिक प्रभुत्व नहीं स्थापित कर सकता। तीसरी दुनिया के देश मूलतः राजनीतिक तौर पर आजाद हैं। लेकिन साथ ही वे साम्राज्यवाद के आम परिवेश में और पूंजीवाद के दायरे में काम कर रहे हैं इसलिए ये देश वित्तीय पूंजी के आक्रमण से बच नहीं सकते। साम्राज्यवादियों और तीसरी दुनिया की इसी स्थिति में यह हो रहा है जिसे हम राजनीतिक स्वाधीनता किन्तु आर्थिक पराधीनता या आर्थिक नव उपनिवेशवाद कहते हैं। अब तीसरी दुनिया को राजनीतिक तौर पर पराधीन बना लेना संभव नहीं है परन्तु उसे आर्थिक तौर पर पराधीन बना लेना बिलकुल संभव है। राजनीतिक स्वाधीनता इस आर्थिक पराधीनता के आड़े नहीं आती।

आर्थिक पराधीनता के इस मामले में साम्राज्यवादी पूंजी बिलकुल अपने प्रभुत्ववादी चरित्र के अनुरूप काम कर रही है। वह इसके लिए सभी तरीके अपना रही है, सैकड़ों तरीकों से पिछड़े देशों की अर्थव्यवस्थाओं को अपनी आक्टोपसी भुजाओं में जकड़ ले रही है। दोनों महाशक्तियों की प्रतिद्वन्दिता की समाप्ति ने केवल इस जकड़न को बढ़ाने का काम ही किया है, किसी "सान्ता क्लाजी पूंजी" को जन्म नहीं दिया है।

यहीं से यह भी स्पष्ट है कि क्यों साम्राज्यवादी पूंजी अलग-अलग देशों की पूंजी के रूप में काम करने के साथ-साथ सामूहिक तौर पर - अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से — भी काम कर रही है। अब चूंकि किसी एक पिछड़े देश पर किसी एक साम्राज्यवादी देश का राजनीतिक आधिपत्य (संभव) नहीं है अतः अन्य साम्राज्यवादी देशों को भी वहां निवेश करने से और माल बेचने-खरीदने से रोका नहीं जा सकता। इसलिए इन सभी देशों में सभी साम्राज्यवादी लूट का अपना तंत्र फैलाते हैं और उनकी निगरानी के लिए अपनी-अपनी सरकारों के साथ अपनी सामूहिक संस्थाओं का इस्तेमाल करते हैं, जहां तक लूट की प्रक्रिया में उनका सामूहिक हित है। यहां "पूंजीवादी खेल के समरूप नियम" कहीं नहीं हैं। हैं, तो बस आधिपत्य की नई-नई चालें। दुर्भाग्य यह है कि गांधीवादी तक इन बातों को साफ-साफ देख रहे हैं, बुर्जुआ पार्टियां तक विरोधी पार्टी की सरकार को तंग करने के लिए "आर्थिक गुलामी" का नारा बुलंद करती हैं, लेकिन हमारे "मार्क्सवादी" हैं कि उन्हें यह आर्थिक पराधीनता कहीं दीखती ही नहीं। वे तो "सांता क्लाजी वैश्विक पूंजी"

से अभिभूत हैं।

इसी बात को और जोर से स्थापित करने के लिए यह बात कही जा रही है कि "साम्राज्यवाद का हित अब तीसरी दुनिया में पूंजीवाद के विकास" में है। इतना ही नहीं इस "विकास पर साम्राज्यवाद का बहुत कुछ दांव" पर लगा है। इसे स्थापित करने के लिए साथ में यह भी कहा जा रहा है कि औपनिवेशिक काल में ऐसा नहीं था। तब साम्राज्यवाद उन देशों में "पूंजीवादी विकास में बाधा" था।

यह झूठे तथ्यों पर आधारित एक ऐसी बात है जो केवल साम्राज्यवाद के बेशर्म चाकर ही निर्भीकता से कह सकते हैं। तीसरी दुनिया के कितने बड़े हिस्से में हो रहा है "पूंजीवादी विकास"? क्या ज्यादातर बड़ा हिस्सा वास्तव में भीषण बर्बादी का शिकार नहीं है? पूरे अफ्रीका की तबाही का सेहरा किसके सिर पर है? और जिन देशों में साम्राज्यवाद ने तथाकथित विकास किया भी - यानि दक्षिण पूर्व के देशों की आज क्या स्थिति है? क्या पिछले दो सालों में साम्राज्यवादी पूंजी वहां विकास कर रही है? बुर्जुआ अर्थशास्त्री तक दक्षिण पूर्व एशिया के मामले में साम्राज्यवाद के व्यवहार को "गिद्ध पूंजीवाद" कह रहे हैं, लेकिन श्रीमान अरविंद जैसे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी वहां "पूंजीवाद का विकास" देख रहे हैं। या आपका इशारा चीन, मैक्सिको और ब्राजील की ओर है जहां प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश का ज्यादातर हिस्सा (तीसरी दुनिया के हिस्से का) जा रहा है? लेकिन यह पूंजी क्या वहां "बिकास" करने जा रही है? यह एक ऐसी गर्हित बात है कि कटु से कटु शब्द भी इसके लिए अपर्याप्त हैं।

यह सारी बात दोहरे झूठ पर आधारित है। पहला झूठ तो यह है कि "साम्राज्यवाद ने उपनिवेशों मे पूंजीबादी विकास में बाधा पैदा की" और दूसरा यह कि "आज साम्राज्यवाद इन पिछड़े देशों में पूंजीवादी विकास का इच्छुक" है। सच बात तो यह है कि साम्राज्यवादी पूंजी का व्यवहार तब से अब तक एक जैसा रहा है - सारी दुनिया में प्रभुत्व कायम करने का और अपनी लूट को हर संभव तरीके से बढ़ाने का। इसके लिए एक समय इसने पिछड़े देशों को राजनीतिक तौर पर पराधीन बनाया और आज जब ऐसा करना संभव नहीं है तो वह आर्थिक पराधीनता से काम चला रही है। उसकी यह लूट वित्तीय पूंजी के निर्यात पर टिकी है। वित्तीय पूंजी अतिलाभ कमाने के लिए पिछड़े देशों में निर्यात की जाती है। वहां वह अपने लिए हर संभव अनुकूल माहौल बनाने का प्रयास करती है। इसमें यह भी शामिल है कि संभव हो तो देशी पूंजी को न पनपने दिया जाए। लेकिन साथ ही यह भी कि यदि फायदा हो तो देशी पूंजी से गठजोड़ कायम कर लिया जाए। यह दोनों औपनिवेशिक काल में भी होती थीं और आज भी होती हैं। फर्क केवल इतना है कि राजनीतिक आधिपत्य की स्थिति में वित्त पूंजी के लिए अपने मनोनुकूल माहौल तैयार करना ज्यादा आसान होता था।

लेकिन पूंजीवादी विकास इन देशों में तब भी नहीं रुका। वित्त पूंजी के इसी निवेश ने, अपने उप-उत्पाद के तौर पर इन देशों में "पूंजीवादी विकास" को जन्म दिया तथा यह और ज्यादा वित्त पूंजी निवेश के साथ बढ़ता गया। कौमिन्टर्न के सारे दस्तावेज उपनिवेशों में इस पूंजीवादी विकास को चिह्नित करने से भरे पड़े हैं। खुद लेनिन ने अपनी "साम्राज्यवादः पूंजीवाद की चरम अवस्था" पुस्तिका में इस बात को रेखांकित किया कि पूंजीवाद का सबसे तेज गति से विकास समुद्र पार के देशों में और उपनिवेशों मे हो रहा है।

यही बात आज भी सच है। आज भी पिछड़े देशों में वित्त पूंजी का निर्यात हो रहा है और यह वित्त पूंजी वहां अपने उप उत्पाद के तौर पर "पूंजीवादी विकास" कर रही है। लेकिन यह वित्त पूंजी की "इच्छा" या उसका मिशन नहीं है। यह उसकी अतिलाभ की लूट की प्रक्रिया का परिणाम है, जैसा कि हमने कहा उप उत्पाद है। यह किसी भी तरह से औपनिवेशिक काल से भिन्न नहीं है। वित्तीय पूंजी के द्वारा अतिलाभ की लूट का उप-उत्पाद यह "पूंजीवाद विकास" तब भी बहुत एकांगी, असमान और बर्बर था, आज भी वह ऐसा ही है।

सच बात यही है कि साम्राज्यवादी पूंजी की कार्यप्रणाली अपने मूल चरित्र में वही है, उसके रूप में यदि कोई परिवर्तन हुआ है तो वह उस पर थोपा गया है। वह कतई सांता क्लाजी नहीं बनी है, वह अभी भी वही रक्त पिपासु है जो एक हाथ में बाइबिल और दूसरे में तलवार लेकर चलती थी। बस आज तलवार चलाने की उसकी क्षमता सीमित कर दी गई है, उसकी इच्छा के विरुद्ध।

साम्राज्यवाद की "नई कार्यप्रणाली" के बारे में श्रीमान अरविंद तब हद कर देते हैं जब वे कहते हैं:

"इसीलिए, **साम्राज्यवादी शोषण ने, आम पूंजीवादी शोषण का रूप ग्रहण कर लिया है** और साम्राज्यवाद की नई

कार्यप्रणाली आर्थिक लूट के लिए राजनीतिक आधिपत्य के गैर पूंजीवादी रूप पर बहुत कम निर्भर है।..." (वही, पृष्ठ-9, जोर हमारा)।

जैसा कि हमने कहा, यह हद है। उपरोक्त वक्तव्य का सीधा सा मतलब यह है कि साम्राज्यवाद अब आम पूंजीवाद बन गया है। उसका शोषण अब आम पूंजीवादी शोषण बन गया है। यानि साफ कहा जाए तो साम्राज्यवाद खत्म हो गया है या खत्म होने की ओर अग्रसर है। तो क्यों न हम फिर बुश-क्लिंटन-ब्लेयर-मोरी-पुतिन के गीत गाएं, जो साम्राज्यवाद को समाप्त कर रहे हैं!

यहां एक बार फिर दृष्टव्य है कि श्रीमान अरविंद की नजर में यदि राजनीतिक आधिपत्य नहीं है तो साम्राज्यवाद नहीं है। उनके हिसाब से आर्थिक आधिपत्य वाले साम्राज्यवाद का कोई अस्तित्व नहीं है। (जरा उनके "राजनीतिक प्रभुत्व के गैर-पूंजीवादी रूप" पर गौर फरमाएं! पूंजीवाद-साम्राज्यवाद की पेटी बुर्जुआ समझ का नमूना है यह!!) अब, चूंकि आज तीसरी दुनिया के देश मूलतः राजनीतिक तौर पर आजाद हैं, सो साम्राज्यवाद भला क्यों कर हो सकता है? लेकिन हम फिर यह कहेंगे कि तब साम्राज्यवाद की "नई कार्यप्रणाली" की ही बात क्यों की जाए? उसे खत्म हो गया या खत्म हो रहा क्यों न घोषित कर दिया जाए? वैसे उपरोक्त वक्तव्य में तो आप प्रत्यक्षः यही कहने का प्रयास भी कर रहे हैं। तो फिर खुलकर घोषित क्यों न कर दिया जाए?

कितनी ओछी, छिछली और विकृत अवधारणा है इनकी वित्त पूंजी और साम्राज्यवाद की! या फिर यह सुधारवादी सोच का परिणाम है?

"सांता क्लाजी" वैश्विक पूंजी की इसी अवधारणा से प्रस्थान करके श्रीमान अरविन्द द्वारा अंतर्साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों को भी एक तरह से नकार दिया गया है, उन्हें अप्रासंगिक बना दिया गया है।

> "साम्राज्यवादियों के बीच के अंतर्विरोधों पर भी वर्तमान समय के आम चरित्र की छाप पड़ी है। यद्यपि ये बुनियादी हैं, तथापि वे औपनिवेशिक काल के मुकाबले या महाशक्तियों के नेतृत्व वाले गुटों के बीच प्रतिद्वन्दिता के मुकाबले बहुत हल्के हैं। इसके पीछे बहुत सारे कारक रहे हैं लेकिन सबसे महत्वपूर्ण वे हैं जो पूंजी के वैश्वीकरण की प्रक्रिया में ही निहित हैं। औपनिवेशिक संरचना के विघटन से सुगम बना दिये गये और वैश्वीकरण की प्रक्रिया से प्रेरित वैश्विक पूंजीवाद, शायद अपने पूरे इतिहास में पहली बार पूंजी के मूल तर्क के हिसाब से काम कर रहा है। साम्राज्यवादियों और आम तौर पर दुनिया के सारे बुर्जुआ वर्ग के बीच यह आम सहमति पैदा हो रही है कि पूंजीवाद के नियमों का पालन किया जाय और प्रतियोगिता तथा प्रतिद्वन्दिता को आर्थिक क्षेत्र तक सीमित रखा जाय। ...क्या यह प्रबन्ध अन्तर्साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों के बहुत तीखे हो जाने पर भी कायम रहेगा, इस पर निश्चित तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता। तथापि वर्तमान वैश्विक सच्चाई इस समझ को पुख्ता बनाती है कि टकरावों और अंतर्विरोधों को विश्व पूंजीवाद के वर्तमान ढांचे में, और जितना संभव हो आर्थिक क्षेत्र में बनाये रखा जाय।" (वही, पृष्ठ-9)

पहली बात तो यह कि यह आज के अंतर्साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों को बहुत कम करके आंकना है। दूसरी, यह कि यह आज की स्थिति का "सैद्धान्तीकरण" है अपनी "सान्ता क्लाजी" पूंजी की तर्ज पर।

साम्राज्यवाद के पूरे इतिहास में ऐसे दौर आते रहे हैं, जब कभी उनके बीच के अंतर्विरोध बहुत हल्के हो जाते हैं तो कभी बहुत तीखे। उनके बीच संघर्ष शाश्वत चीज़ है जबकि सहमति तात्कालिक। ऐसे में तात्कालिक सहमति को आधार बना कर कोई बात कहना निश्चित तौर पर गलत निष्कर्षों तक ले जायगा।

यहां तो और भी आगे की बात की गयी है। यहां आज अंतर्साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों के हल्के होने को तात्कालिक परिघटना नहीं कहा गया है बल्कि यह बताने का प्रयास किया गया है यह एक दूरगामी प्रक्रिया है क्योंकि इसका एक ठोस भौतिक आधार है। यह आधार है आज के साम्राज्यवाद की "नयी कार्यप्रणाली"। अब यदि सहमति की जमीन इतनी पुख्ता हो तो फिर उनके बीच अंतर्विरोध कभी भी क्यों तीव्र हो जायेंगे। ऐसे में यह कहना कि "क्या यह प्रबन्ध अंतर्साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों के तीखे हो जाने पर भी कायम रहेगा, इस पर निश्चित तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता" निरर्थक है क्योंकि ऐसा कभी होगा ही नहीं। आपके हिसाब से पूंजीवाद के "खेल के नियमों" का पालन करने का बहुत मजबूत आर्थिक आधार है और इसी कारण साम्राज्यवादियों के बीच अंतर्विरोध कभी तीखे नहीं होंगे। लेकिन तब आप खुलकर ही यही बात क्यों नहीं कहते! क्यों यह दिखावा करते हैं कि भविष्य में आप अंतर्विरोधों के तीखे होने से इंकार नहीं करते।

साम्राज्यवाद के बारे में श्रीमान् अरविन्द की सारी बातों का सारतत्व वस्तुतः लेनिन की साम्राज्यवाद की अवधारणा का नकार है। लेकिन वे खुलकर यह कहने का साहस नहीं करते।

III

विकसित पूंजीवाद का स्तुतिगान

श्रीमान अरविन्द और उनके साथीगण विकसित पूंजीवाद से अभिभूत हैं और इसीलिए उन्हें इस पूंजीवाद की विभीषिका और उसका संकट दिखाई नहीं देता। उन्हें वहां सर्वत्र खुशहाली दिखाई देती है, इतनी कि उन्हें वहां सर्वहारा दिखाई ही नहीं पड़ता। ऐसे में वे इस विकसित पूंजीवाद के सामने नतमस्तक हो जाते हैं और "नये सामाजिक आंदोलनों" में हिस्सेदारी को ही वे वहां क्रांति का रास्ता घोषित कर देते हैं।

वे लोग इस विकसित पूंजीवाद से इतने अभिभूत हैं कि उन्हें वहां कल्याणकारी राज्य के विघटन की पिछले दो दशकों की प्रक्रिया दिखाई ही नहीं पड़ती। इनके हिसाब से सारे कुछ के बावजूद इन देशों में कल्याणकारी राज्य बना हुआ है। इतना ही नहीं जब तक पूंजीवाद है, तब तक कल्याणकारी राज्य बना रहेगा। वाह! इतना तो हमारे मनमोहन सिंह, नरसिंहराव या वाजपेयी जैसे बुर्जुआ भी दावा नहीं करते।

> "जब तक पूंजीवाद रहेगा, तब तक एक या दूसरे रूप में अर्थ व्यवस्था में राज्य का दखल और कल्याणकारी राज्य बना रहेगा।" (वही, पृष्ठ-11)

क्या अभ्यर्थना है पूंजीवादी राज्य की!

> "... कुल मिलाकर इस शताब्दी के अंत में पूंजीवाद ने कुछ चुनिंदा और विकसित पूंजीवादी देशों के लोगों को आम तौर पर एक ऊँचा जीवन स्तर मुहैया कराया है।" (वही, पृष्ठ-12)
>
> "... विकसित पूंजीवाद में मेहनतकश जनता के भारी हिस्से बचत करने और निवेश करने में सक्षम हो जाते हैं और इस तरह अपनी आय को ब्याज और लाभांश से प्रतिपूरित करते हैं। कुल मिलाकर वे अपनी श्रम शक्ति की बिक्री पर जिन्दा रहते हैं और इसीलिए मेहनतकश जनता के हिस्से हैं। लेकिन वे सोचते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था के स्वास्थ्य में उनका भी दांव पर लगा है। वस्तुतः उनकी बचत, चाहे वह प्रत्यक्ष निवेश के जरिये हो या पन्शन फण्ड के जरिये, पूंजीवादी देशों में पूंजी का काफी बड़ा हिस्सा बनती है।..." (वही, पृष्ठ-13)

यह है पूंजीवादी स्वर्ग का वर्णन! कहाँ है इसमें 10 से 25 प्रतिशत तक की बेरोजगारी, कहाँ हैं इसमें न्यूयार्क की फुटपाथों पर शरण लिए हुए लोग, कहां हैं इसमें काले लोगों से भरी हुई संयुक्त राज्य अमेरिका की जेलें, कहां है इसमें कू-क्लक्स-क्लान और नव नाजीवादी? यहाँ तो बस ऐसे मेहनतकश हैं जो अपनी आय को ब्याज व लाभांश से प्रतिपूरित करते हैं। ऐसे लोग तो तीसरी दुनिया में भी मिल जायेंगे। क्या भारत में भी कुल पूंजी निर्माण का भारी हिस्सा घरेलू बचत से नहीं आता? तब तो भारत भी स्वर्ग है! पिछले बीस सालों में चारों ओर शोर मचा हुआ है कि सारी दुनिया के साथ विकसित पूंजीवादी देशों में भी गैर बराबरी बढ़ रही है, अमीरी और गरीबी के बीच ध्रुवीकरण बढ़ रहा है, यहां तक कि मजदूरों की आय निरपेक्ष तौर पर घट रही है- वह आज 1970 या 1980 के मुकाबले कम है। लेकिन इन सबका यहां कोई जिक्र नहीं है। यहां संयुक्त राज्य अमेरिका के बहुत बड़े घरेलू ऋण का कोई जिक्र नहीं है जिसके कारण आबादी का निचला 40% हिस्सा लगातार कर्ज में डूबा हुआ है (उनकी कुल संपत्ति का मूल्य ऋणात्मक है)। काश इस मामले में श्रीमान अरविन्द ने अपने उन्हीं पसंदीदा "मंथली रिव्यू" के लेखकों को देख लिया होता जिनसे उन्होंने समाजवाद के बारे में इतनी सारी बातें उधार ली हैं।

लेकिन विकसित पूंजीवादी दुनिया में मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनता पर लगातार बढ़ रहे संकटों को दरकिनार कर ये बातें कही जाती हैं जो मजदूर वर्ग के अस्तित्व को ही खारिज कर देती हैं।

> "इन सबने दृश्यमान वास्तविकता के स्तर पर वर्गीय विभाजनों को बहुत धुंधला कर दिया है।..." (वही, पृष्ठ-13)
>
> "... यह पूंजीवादी वास्तविकता के दृश्यमान स्तर से काफी नीचे चली गई है।..." (वही, पृष्ठ-13)

इसके बाद इस परिघटना का "सैद्धान्तीकरण" किया जाता है:

> "... ज्यादा विकसित व्यवस्थाएं ज्यादा विभेदीकृत होती हैं और उनके संरचनागत स्तर उस दृष्टिगोचर स्तर से काफी नीचे दबे होते हैं जिस पर व्यवस्था अपने को अभिव्यक्त कर रही होती है। पूंजीवादी व्यवस्था के मामले में यह तथ्य पूंजी की काफी ज्यादा जटिल यति, रंग बिरंगे सामाजिक बनावट में, वर्गीय संरचना के नीचे दब जाने तथा सामाजिक शक्तियों और परिघटनाओं की बहुलता में अभिव्यक्त होता है। ... यह सारी जटिलता उस बहुलता और हितों और आंदोलनों के उलझे हुए जाल में परिणत होती है जिनके वर्गीय आधार को खोज पाना आसान नहीं होता।" (वही, पृष्ठ 38-39)

श्रीमान अरविन्द भले "भूल" गये हों परन्तु हमें यह याद रखना होगा कि उपरोक्त वक्तव्य "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र" का स्पष्ट नकार है। घोषणापत्र में यह बात एकदम साफ-साफ कही गई है कि पूंजीवाद के पहले के समाजों में हम नाना सामाजिक श्रेणियों का एक पेचीदा ढांचा पाते हैं परन्तु पूंजीवादी युग की विशेषता यह है कि इसने वर्ग विरोधों को सरल बना दिया है तथा आज पूरा समाज दो विशाल शिविरों में - पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों में — अधिकाधिक विभक्त होता जा रहा है।

श्रीमान अरविन्द खुलेआम यह नहीं कहते कि वे मार्क्स एवं एंगेल्स द्वारा प्रस्तुत मार्क्सवाद की एक बुनियादी अवधारणा से आज सहमत नहीं हैं कि आज के विकसित पूंजीवाद में यह अवधारणा पुरानी पड़ गई है। इसके बदले वे एक दूसरा तरीका अपनाते हैं। वे जीव विज्ञान से एक उदाहरण लेते हैं और कहते हैं कि जैसे जीव विकसित होकर ज्यादा जटिल हो जाते हैं, उसी प्रकार समाज भी ज्यादा विकसित होकर जटिल हो जाता है। पूंजीवादी समाज भी इसी कारण आज जटिल हो गया है और उसकी मूलभूत संरचना कहीं नीचे दब गई है। पहले तो इसी उदाहरण को लें। क्या वही जीव ज्यादा जटिल संरचना वाला बन जाता है? नहीं। वह वैसा ही बना रहता है परन्तु उससे ऊँची जाति (specy) का जीव ज्यादा जटिल संरचना का होता है। लेकिन पूंजीवाद तो वही "जीव" है। ज्यादा से ज्यादा कह सकते हैं इसी "जीव" के रूप अनेक हैं। जैसे कुत्ते या बिल्ली कई नस्लों के होते हैं वैसे ही यह पूंजीवादी "जीव" भी कई "नस्लों" का है — एक अमेरिकी, एक फ्रांसीसी, एक जापानी, एक हिन्दुस्तानी इत्यादि। लेकिन इनकी मूलभूत संरचना तो एक ही है। यानि जीवों से यह समांतर उदाहरण निरर्थक है।

अब वास्तविक विकसित पूंजीवादी समाजों की बात करें। सच बात तो यह है कि "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र" ने जिस प्रवृत्ति को चिन्हित किया था वह सही मायनों में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही कहीं जाकर पश्चिमी यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि विकसित पूंजीवादी देशों में वास्तविकता ग्रहण कर सकी, ठीक वही समय जब श्रीमान अरविंद वर्ग विभेदों के धूमिल हो जाने की बात करते हैं। अमेरिका में तभी कहीं जाकर यह हुआ कि व्यक्तिगत खेती खत्म हो गयी और शहरों के व्यक्तिगत व्यवसाय तिरोहित हो गए। पूरा समाज केवल दो भागों में बंट गया - एक जो पूंजी का मालिक है, दूसरा जो उसके यहां उजरत पर काम करता है। अब न तो वहां कोई पूर्व पूंजीवादी वर्ग हैं और न ही व्यक्तिगत स्वामित्व वाले वर्ग। अब वहां लोग या तो पूंजीपति हैं या मजदूर। बाकी लोगों की संख्या बहुत कम है। यानि साफ है कि वहां वर्ग विभेद धूमिल होने के बदले और स्पष्ट हो गए हैं।

अब मेहनकशों द्वारा बचत या शेयरों की खरीद को लें। इनसे क्या, जैसा कि आप खुद कहते हैं, मजदूरों का मूलभूत चरित्र बदल जाता है। वहां यदि जीवन स्तर ऊँचा है तो साथ ही यह भी सच है कि वहां स्वयं का व्यवसाय करने वाला बनना या इससे भी आगे बढ़कर पूंजीपति बनना यहां भारत के मुकाबले कई गुना ज्यादा कठिन है। वहां, इजारेदारियों के गढ़ में, यह भ्रम पालना और भी ज्यादा कठिन है कि 'एक दिन हम भी पूंजीपति बन जाएंगे'।

लेकिन तब भी यह सच है कि वहां पूंजीपति और मजदूर के बीच का संघर्ष उतना तीखा नहीं है जितना पिछड़े देशों में! परन्तु एक तो यह तात्कालिक बात है और दूसरे उसका एक बहुत अहम् आधार हैं जिसे लेनिन ने बहुत पहले चिन्हित किया था यानि मजदूरों के एक ऊपरी हिस्से को साम्राज्यवाद द्वारा घूस दे देना। यह घूस की प्रक्रिया आज और भी बड़े पैमाने पर चल रही है। परन्तु श्रीमान अरविंद इसे नहीं देखते। वे तो साम्राज्यवाद द्वारा कमाये जा रहे अतिलाभ की भी बात नहीं करते। फिर वे इसके द्वारा दिए जाने वाले घूस की बात क्यों करेंगे? वे तो वर्ग-संघर्षों के धूमिल होने का कारण विकसित पूंजीवाद की "विकसित संरचना" में ही देखेंगे। यहां हम देखते हैं कि एक तीर से दो शिकार किए गए हैं: मार्क्स-एंगेल्स के "घोषणापत्र' को नकारा गया है तो साथ ही लेनिन के 'साम्राज्यवाद' को भी।

अब यदि विकसित पूंजीवाद में वर्गीय संरचना इतनी धूमिल हो गयी है, वह इतनी नीचे दब गई है तो वर्ग संघर्ष भी क्यों होगा? तब फिर "नये सामाजिक आंदोलन ही होंगे" और कम्युनिस्टों को इन्हीं को अपना आधार बनाना चाहिए।

"... बीसवीं सदी के अंत में विकसित पूंजीवादी देशों में वर्गीय संरचना एक जटिल और विभेदीकृत सामाजिक वास्तविकता के बीच की परतों के नीचे छिप गई है। यही वह कारण है कि इन देशों में नए प्रकार के सामाजिक आंदोलन पैदा हो रहे हैं जिन्हें मेहनकश लोगों के राजनीतिक और सामाजिक संघर्षों के रूप में देखा जाना चाहिए जो इस तरह पूंजीवादी व्यवस्था से अपने असंतोष और मोहभंग को अभिव्यक्त कर रहे हैं। यह इन देशों के सर्वहारा के वास्तविक अगुआ दस्ते के सामने कार्यभार और बड़ी चुनौती है कि वे इन सामाजिक आंदोलनों के वर्गीय आधार को समझें और इस अद्भुत वास्तविकता में हस्तक्षेप के लिए वह रणनीति तैयार करें जो पूंजीवादी व्यवस्था के संरचनागत आधारों को हिला कर रख दे।" (वही, पृष्ठ-14)।

अरे! यह भाषा तो बिलकुल जानी पहचानी है। जी हाँ, यह भाषा उत्तर आधुनिकतावादियों की है। "विभेदीकृत सामाजिक वास्तविकता"! "नये सामाजिक आंदोलन"! और यहां हमें यह भी नोट करना चाहिए कि मजदूर वर्ग के तिरोहित होने की, वर्गीय संरचना के धूमिल होने की, जटिल समाज बनने की सारी बातें उत्तर औद्योगिक समाज वाले, उत्तर पूंजीवादी समाज वाले, उत्तर औपनिवेशिक काल वाले भी करते हैं जिनकी मुकम्मल विचारधारा है उत्तर आधुनिकतावाद! मतलब यह कि "नए सामाजिक आंदोलन" इत्यादि की ये सारी बातें वस्तुतः उत्तर आधुनिकतावाद को चुपके से अपने कार्यक्रम में घुसाने की कोशिश है (वैसे औपचारिक तौर पर 'अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के बारे में' वाले हिस्से में उत्तर आधुनिकतावाद का विरोध किया गया है)। उपरोक्त उद्धरण का अंतिम वाक्य क्या इस बात को साफ-साफ नहीं कहता कि विकसित देशों में कम्युनिस्टों का कार्यभार नये सामाजिक आंदोलनों से पूंजीवादी व्यवस्था की नींव को हिलाना है?

इसका क्या अर्थ निकलता है? यही न कि इन देशों के कम्युनिस्ट सर्वहारा को संगठित कर उसे पूंजीपति वर्ग के खिलाफ संघर्षों में न उतारें और उसे ही अपनी सारी कार्यवाहियों का आधार और प्रस्थान बिन्दु न बनाएं बल्कि वे पर्यावरणवादी, नारीवादी, नस्लवादी इत्यादि आंदोलनों में हिस्सेदारी करें उसे अपनी कार्यवाहियों का आधार बनाएं। श्रीमान अरविन्द इन देशों के कम्युनिस्टों से यह आग्रह करते हैं कि वे इन वर्गेतर आंदोलन के वर्गीय आधारों को समझें! वह इन वर्गेतर आंदोलनों में शामिल हों और उसके द्वारा सर्वहारा वर्ग को संगठित करें व पूंजीवाद की जड़ों को हिला दें! वाह! इस मामले में श्रीमान अरविन्द अपने "मंथली रिव्यू" के बुर्जुआ मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों से भी मीलों पीछे चले गये हैं क्योंकि वे भी इन नये सामाजिक आंदोलनों के असली "वर्गीय" चरित्र को पहचानते हैं और उन्हें सीधे-सीधे सर्वहारा वर्ग के आंदोलन के बरक्स खड़ा करते है।

आज सभी देशों का बुर्जुआ (केवल विकसित पूंजीवादी देशों का बुर्जुआ ही नहीं) वर्ग चाहता है कि सर्वहारा वर्ग संगठित न हो पाये क्योंकि वह जानता है कि केवल वही उसकी कब्र खोद सकता है। इसीलिए वह न केवल पर्यावरणवादी, नारीवादी, नस्लवादी, जातिवादी इत्यादि वर्गेतर आंदोलनों को सहन करता है बल्कि वह उन्हें प्रत्यक्षतः या परोक्षतः प्रोत्साहन भी देता है। इसके लिए बहुत फायदेमंद है कि लोग वर्गेतर सुधारवादी आंदोलनों में उलझे रहें और पूंजीवादी व्यवस्था की जड़ों पर प्रहार न हो पाये। गैर-सरकारी संगठन परिघटना को मिलाकर यह एक मुकम्मल रणनीति बन जाती है। (प्रसंगवश, इस पूरे दस्तावेज में गैर सरकारी संगठन परिघटना पर कुछ नहीं कहा गया है। यह चुप्पी क्या दिखाती है?) इन्हीं सबकी मुकम्मल विचारधारात्मक अभिव्यक्ति है उत्तर आधुनिकवाद जो खुलेआम मार्क्सवाद विरोधी भाववादी विचारधारा है। उत्तर आधुनिकतावाद नये सामाजिक आंदोलनों का शानदार सामान्यीकरण है और विकसित पूंजीवादी समाजों के बारे में वह मोटा मोटी अक्सर तो उसी शब्दावली में, वही बात करती है जो श्रीमान अरविन्द करते हैं। तो क्यों न माना जाय कि अपने तमाम मार्क्सवादी मुलम्मे के बावजूद वे मूलतः उत्तर आधुनिकतावाद की ही वकालत कर रहे हैं?

IV

क्रांतिकारी समांतर सत्ताः सुधारवाद की वकालत

यदि "नये सामाजिक" आंदोलनों में भागीदारी की वकालत बुर्जुआ सुधारवादी आंदोलनों में अपने को फंसा लेने की वकालत है तो क्रांति के रास्ते के बतौर "क्रांतिकारी समान्तर सत्ता" भी प्रकारान्तर से सुधारवाद को परवान चढ़ाना है। यह बात अजीब लग सकती है परन्तु यह सच है कि श्रीमान अरविन्द द्वारा प्रस्तुत की जा रही "क्रांतिकारी समान्तर सत्ता" की "खालिस क्रांतिकारी" थीसिस वस्तुतः क्रांति से पलायन की पूर्व पीठिका

तैयार करती है। परन्तु आइये पहले उन्हें ही बोलने दें:

"वर्तमान परिदृश्य में पिछड़े पूंजीवादी देशों में क्रांति के रास्ते को एक लम्बे दौर की क्रांतिकारी तैयारियों के दौर से गुजरना होगा जिस दौरान क्रांतिकारी ताकतों को सामाजिक जीवन में नयी संस्थाओं को खड़ा करना पड़ेगा तथा इसी व्यवस्था के भीतर समान्तर सत्ता बनकर उभरना होगा जिससे कि प्रतिक्रियावादी ताकत को अंततः उखाड़ फेंकने के लिए ताकत जुटाई जा सके।..." (वही, पृष्ठ-28)।

"क्रांति का सही रास्ता समान्तर सत्ता के अभ्युदय तक ले जायगा जो कि क्रमशः समाज में दोहरी सत्ता की स्थिति पैदा करेगा जो कि क्रांति की पूर्व पीठिका होगी।..." (वही, पृष्ठ-42)

"इन सभी का आशय यह है कि क्रांति भारतीय समाज के एजेण्डे पर है लेकिन इसका रास्ता एक अपेक्षाकृत लम्बी तैयारी से होकर गुजरेगा। सभी क्रांतियों की तरह, इस दौर में भी समाज में क्रांतिकारी समांतर सत्ता का अभ्युदय होगा।..." (वही, पृष्ठ-45)

उपरोक्त सारी बातें एक तो झूठ पर, दूसरे क्रांतियों की बेहद एकांगी समझ पर और तीसरे सुधारवादी सोच पर टिकी हुयी है। आईये देखें कैसे?

यह कहना एकदम झूठ है कि "सभी" क्रांतियों में क्रांतिकारी समान्तर सत्ता का अभ्युदय हुआ था। पेरिस कम्यून के पहले मजदूरों की कोई क्रांतिकारी समान्तर सत्ता नहीं थी। रूस में फरवरी क्रांति से पहले कोई क्रांतिकारी समान्तर सत्ता नहीं थी और समाजवादी क्रांतियों के नाम पर हम केवल दो क्रांतियों (पेरिस कम्यून व अक्टूबर समाजवादी क्रांति) को जानते हैं (यहां फरवरी क्रांति के बुर्जुआ जनवादी चरित्र पर हम फिलहाल बात नहीं कर रहे हैं जो बिना रूके हुए अक्टूबर समाजवादी क्रांति में प्रवेश कर गई)। रूस में दोहरी सत्ता कायम हुयी लेकिन वह फरवरी क्रांति के हो जाने के **बाद**, उसके **पहले** नहीं और इस क्रांति का वाहक भी मजदूर वर्ग था। तब फिर यह झूठ क्यों गढ़ा जा रहा है कि "सभी" क्रांतियों में पहले क्रांतिकारी समान्तर सत्ता कायम हुयी थी? यदि यह कथन नव जनवादी क्रांति पर आधारित है तो वह यहां निरर्थक है क्योंकि आप समाजवादी क्रांति के प्रस्तोता हैं, नव जनवादी क्रांति के नहीं। और नव जनवादी क्रांति में भी क्रांतिकारी समान्तर सरकार कायम नहीं होती बल्कि वास्तविक एकछत्र सरकार कायम होती है, आधार इलाके के रूप में। फिर यह झूठ क्यों? क्या अपनी बात को झूठा ऐतिहासिक आधार प्रदान करने के लिए नहीं?

दूसरी बात पर आयें। यह थीसिस क्रांति की बेहद एकांगी और जड़सूत्रवादी तस्वीर पेश करती है। यह समाजवादी क्रांति को एक सूत्र से बांध देती है और बिलकुल भिन्न प्रकार की स्थिति का सामना करने में मजदूर वर्ग और उसकी पार्टी को एकदम निकम्मा बना देती है।

हम जानते हैं कि क्रांति की बुनियादी शर्त यह है कि शासक वर्ग पुराने तरह से शासन करने में अक्षम हो जायें और शासित वर्ग पुराने तरह से शासित होने से इंकार कर दें। केवल इन दोनों परिस्थितियों के एक साथ पैदा होने पर ही क्रांति संभव है। लेकिन समाजवादी क्रांति के लिए यह भी जरूरी है एक सही विचारधारा और रणनीति पर खड़ी लौह अनुशासन में बंधी पार्टी भी हो जिसका सर्वहारा और बाकी जनता में व्यापक आधार हो और वह क्रांतिकारी विस्फोट के समय उनका नेतृत्व कर सके। केवल ऐसी पार्टी ही सर्वहारा वर्ग और बाकी क्रांतिकारी जनता को क्रांति की सफलता तक पहुँचा सकती है।

ऐसी पार्टी न केवल सर्वहारा वर्ग और जनता में अपना आधार बनाती है, उसे अपने इर्द गिर्द गोलबन्द करती है बल्कि वह उपरोक्त क्रांतिकारी परिस्थितियां लाने में अपनी ओर से भरपूर प्रयास भी करती है। वह यह प्रयास करती है कि शासक वर्ग शासन करने में अक्षम होते जायें। वह यह भी प्रयास करती है कि शासित जनता शासित होने से इंकार करने लगे।

इस पूरी प्रक्रिया में पार्टी समाजवादी क्रांति के लिए एक दीर्घकालीन तैयारी में लगी रहती है जिस दौरान वह अपनी ताकत बढ़ाती है (संख्या व विस्तार में), वह जनता को शत्रु वर्ग के खिलाफ गोलबंद करती है। लेकिन यह सारी दीर्घकालिक तैयारी किस राह से सत्ता पर कब्जे तक जायेगी, यह पहले से नहीं कहा जा सकता। इसके लिए कोई एक रास्ता घोषित कर देना जड़सूत्रवाद होगा।

इस रास्ते के आम चरित्र के बारे में कुछ बातें तय होंगी मसलन यह इस या उस रूप में विद्रोह होगा, यह हिंसक होगा, यह शत्रु वर्ग की सेना को विघटित और विभाजित करेगा। लेकिन इसकी ठीक-ठीक रूप-रेखा क्या

होगी, यह पहले से नहीं कहा जा सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि क्रांति आम राजनीतिक हड़ताल के विद्रोह में परिणत हो जाने से हो जाय। यह भी हो सकता है कि पार्टी पूरी तैयारी से किसी एक निश्चित समय पर सत्ता पर कब्जा करने के लिए विद्रोह का आह्वान करे। यह भी हो सकता है कि जनता के स्वतः स्फूर्त विद्रोह के जरिये सत्ता पर कब्जा करने की स्थिति पैदा हो जाए। एक संभावना के बतौर श्रीमान अरविन्द की क्रांतिकारी समान्तर सत्ता को नकारा नहीं जा सकता लेकिन उसका वह स्वरूप नहीं होगा जैसा कि वे सोचते हैं। जो होगा, इतना जरूर होगा कि पार्टी को अपने को संगठित कर, दीर्घकालीन कार्यों के जरिये इसमें से किसी की संभावना के लिए तैयार रहना होगा। यदि वह ऐसा नहीं करती तो वक्त आने पर वह सत्ता पर कब्जा करने के लिए सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करने में चूक जाएगी।

मार्क्स - एंगेल्स और लेनिन के जमाने से ही हम समाजवादी क्रांति के "रास्ते" के बारे में यही जानते रहे हैं। हम यह जानते रहे हैं कि उन्होंने किसी एक खास रास्ते का "सूत्र" कभी नहीं रखा। वे हमेशा इसे क्रांतिकारी परिस्थितियों पर छोड़े रहे और लगातार केवल इस बात पर जोर देते रहे कि पार्टी को खुद को लगातार मजबूत बनाते हुए सर्वहारा वर्ग को संगठित करना होगा। जारशाही रूस के बारे में लेनिन ने 1901 में ही यह बात कही थी कि यह बात कहना एकदम बेहूदा और जड़सूत्रवादी होगा कि केवल संगठित विद्रोह के जरिये ही जारशाही को ध्वस्त किया जा सकता है। इस बात की संभावना है, और ऐतिहासिक कारणों से यह ज्यादा संभव है कि यह स्वतःस्फूर्त विस्फोटों या राजनीतिक संकटों से ध्वस्त हो जाय। हम जानते हैं कि फरवरी 1917 में मोटा-मोटी यही हुआ। इसी तरह लेनिन ने फ्रांस में क्रांति की संभावना की बात करते हुए कहा था कि तीखे राजनीतिक संकट के समय में कोई "ड्रायफस का मुकदमा" भी क्रांतिकारी स्थितियों को जन्म दे सकता है। यह बिलकुल उसी तरह संभव होगा जैसे किसी राजकुमार की हत्या विश्व युद्ध की शुरूआत बन जाती है। इन सभी स्थितियों के लिए पार्टी को अपने को तैयार करना होगा। इसके बदले यदि वह किसी एक "रास्ते" से चिपकी रहती है तो वह वक्त आने पर क्रांतिकारी रास्ते से दूर किसी जड़सूत्रवादी रास्ते पर या सुधारवादी रास्ते पर पायी जायगी।

फिर यह "क्रांतिकारी समान्तर सत्ता" के क्रांति के रास्ते की बात क्यों? इसके तीन संभावित कारण लगते हैं। एक तो यह नवजनवादी क्रांति की वकालत करने वाले संगठनों के कार्यक्रम की नकल या उसके दबाव का परिणाम है। चूंकि उनके यहां छापामार लड़ाई, लाल सेना और आधार इलाके के रूप में क्रांति के रास्ते की बात होती है, जो भारत में बेहद जड़सूत्रवादी प्रवृत्ति बन गई है, सो उसके दबाव में श्रीमान अरविन्द एण्ड कम्पनी को भी अपना कोई न कोई "क्रांति का रास्ता" पेश करना ही था। सो उन्होंने एक सूत्र गढ़ा और पेश कर दिया।

दूसरा कारण रूसी क्रांति की गलत समझ है। रूस में एक विशिष्ट स्थिति में क्रांति एक विशिष्ट तरीके से विकसित हुयी और फरवरी 1917 की बुर्जुआ जनवादी क्रांति से होते हुए अक्टूबर समाजवादी क्रांति में प्रवेश कर गई। इन दोनों क्रांतियों के बीच में कुछ दिनों के लिए दोहरी सत्ता भी थी। इस क्रांति की विशिष्टताओं पर हम यहां चर्चा नहीं कर रहे हैं। लेकिन एक क्रांति के अत्यन्त विशिष्ट रास्ते का सामान्यीकरण करना और उसे सभी समाजवादी क्रांतियों पर थोप देना एकदम गलत है। यहां हम एक बार फिर कह दें कि सारे कुछ के बावजूद रूस की यह दोहरी सत्ता हरगिज वह नहीं थी जिसकी श्रीमान अरविंद वकालत करते हैं जो कि पुराने समाज में ही क्रांतिकारी समान्तर सत्ता के परिणाम के बतौर उत्पन्न होगी।

तीसरा कारण, पहले (तीसरी कांफ्रेन्स में) आन्ध्र प्रदेश व बिहार में तथाकथित समान्तर सरकारों का प्रभाव था और अब सुधारवाद की ओर बढ़ते कदम हैं। तीसरी कांफ्रेन्स के दस्तावेजों से साफ है कि वहां पर "क्रांतिकारी समान्तर सत्ता" का क्रांति का रास्ता आन्ध्र प्रदेश व बिहार में PWG, पार्टी यूनिटी व MCC के फैलते प्रभाव क्षेत्रों से बेतरह प्रभावित हैं। इस हद तक कि यदि उसके "ड्राफ्ट पार्टी प्रोग्राम" की भूमि सुधार की अखिल भारतीय अहमियत, समान्तर क्रांतिकारी सत्ता और देश के एक हिस्से में क्रांतिकारी सरकार, दूसरे हिस्से में बुर्जुआ सरकार की बातों को एक साथ मिलाकर देखें तो वह अपने सारतत्व में नवजनवादी क्रांति का कार्यक्रम बन जाता है, समाजवादी क्रांति का कार्यक्रम नहीं। क्रांति के बाद किये जाने वाले कामों की उनकी सूची को देखें तो वहां भी वही ध्वनि निकलती है।

लेकिन यदि पहले "क्रांतिकारी समान्तर सत्ता" आन्ध्र प्रदेश व बिहार की चकाचौंध की परिणति थी तो अब

180° पल्टी खाकर सुधारवाद की प्रस्थान बिन्दु बन गयी है और यही वह तीसरी बात है जिसका हमने शुरू में जिक्र किया था।

बुर्जुआ समाज के दायरे में, उसके भीतर अपनी संस्थाएं खड़ा करके समान्तर सत्ता के रूप में उभरने का काम यदि अपनी मनोगत रूप में न भी हो तो वस्तुगत रूप में इसके सुधारवाद में परिणत हो जाने के पूरे आधार हैं। बुर्जुआ सत्ता अपने विरोधियों के प्रति गाजर व डंडे की नीति पर चलती है। चूंकि क्रांतिकारी सचेत तत्व होते हैं अतः उसका गाजर भी उनके मामले में भिन्न तरह का होता है। वह उनकी संस्थाओं (यहां तक कि सर्वहारा पार्टी को भी) को अपने में समाहित करने के लिए लगातार उन्हें 'जगह' (space) देती रहती है। क्रांतिकारी इस जगह का इस्तेमाल करते रहते हैं और यहां तक कि उसके आदी हो जाते हैं। यदि वे आदी न भी हों तो ये संस्थाएं अपने कार्य के लिए जिस तरह की भारी भरकम मशीनरी की मांग करती हैं, वह अपने आप में एक बड़े पैमाने की जड़ता को जन्म देती है। काम करने के एक खास तरह के तरीके, एक खास सोच, एक खास जीवन शैली को यह जन्म देती है। ऐसी अवस्था में हो सकता है कि क्रांति की बेला आने पर क्रांतिकारी चेतना रहने के बावजूद इस भारी भरकम मशीनरी की जड़ता क्रांति की ओर बढ़ने के के रास्ते में बाधा बन जाय। सर्वहारा वर्ग की ताकत, उसकी "व्यापकता" ही ऐसी अवस्था में क्रांति का अवरोध बन सकती है। दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियों का हश्र, और बातों के अलावा, इसके बारे में भी अच्छी शिक्षा देता है।

लेकिन यह वस्तुगत परिणति की बात है, एक संभावित खतरे, हालांकि प्रबल संभावित खतरे की बात है। पर यहां तो मामला इससे आगे का है। यहां तो बातें सीधे-सीधे अर्थवादी व सुधारवादी शैली में शुरू से ही की जा रही है। यह रहे वे विचारः

> "... क्या कम्युनिस्ट पार्टियों को क्रांतिकारी तैयारियों के बतौर **सामाजिक सुधारों** के और जन-जागरण (enlightment) के वृहद आंदोलनों का नेतृत्व करने में अपने को नहीं लगाना चाहिए?..." (वही, पृष्ठ-29, जोर हमारा)
>
> **"किसी भी क्रांति का रास्ता,** खासकर उपरोक्त स्थितियों में, रणनीतिक लक्ष्यों की ओर उन रणकौशलात्मक आंदोलनों के जरिये बढ़ता है जो ज्यादातर इस पर आधारित होते हैं कि **आम जनता की मांग और इच्छा क्या है?** हालांकि इस बात का अर्थवादी खतरा है कि बीच में भटक जाया जाय परन्तु क्रांतिकारी आंदोलनों के लिए **इसके अलावा कोई रास्ता नहीं है** कि वे **मेहनतकश जनता की जीवन स्थितियों में सुधार के लिए संघर्ष के रास्ते से** आगे बढ़ें।" (वही, पृष्ठ-45, जोर हमारा)
>
> "हालांकि लोग कल के लिए लड़ना चाहते हैं, वे आज जीना भी चाहते है। और जीने की तात्कालिक मांग और जरूरतें होती हैं जो पूरी होनी चाहिएं। कुछ के लिए वे लड़ेंगे और प्राप्त करेंगे लेकिन बाकी का उन्हें इस बीच खुद ही प्रबन्ध करना होगा। एक क्रांतिकारी पार्टी के बतौर हमारे कर्तव्य का यह अभिन्न अंग होगा कि हम दोनों तरह के संघर्षों में भाग लें और नेतृत्व दें। आंदोलन में इस बात की प्रवृत्ति है कि अपनी मांगों के पक्ष में राज्य और व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष और गोलबंदी पर ही केन्द्रित किया जाय और जनता की उस मेहनत और प्रयास से दूर रहा जाय जो उसे जीने के लिए करना पड़ता है। इस क्षेत्र में बहुत कुछ किया जा सकता है और **क्रांतिकारी आंदोलन इनके जीवन को थोड़ा आसान और थोड़ा बेहतर बनाने के लिए प्रयास कर सकता है और उसे निश्चय ही करना चाहिए। ... यह समान्तर ताकत उभरने में और मदद करेगा क्योंकि यह सामाजिक जीवन के प्रबन्ध के लिए समांतर संस्थाएं खड़ा करेगा जबकि व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष चलता रहेगा। यह लोगों के जीवन का प्रबन्ध करने के लिए महत्वपूर्ण अनुभव भी प्रदान करेगा।**
>
> "आंदोलन में इस पहलू को सुधारवाद के रूप में देखने की व्यापक प्रवृत्ति है।..." (वही, पृष्ठ-47, जोर हमारा)

यानि इस लाइन के प्रस्तोताओं को इस बात की बखूबी चेतना है कि क्रांतिकारी आंदोलन उपरोक्त बातों को अर्थवाद, सुधारवाद के रूप में देखता है। इसके बावजूद वे अपनी बात पर अड़े रहते हैं।

पर श्रीमान अरविन्द यह चाहें या न चाहें वे अर्थवादी रास्ते पर हैं, "क्रांति के रास्ते पर" नहीं। इसका मतलब क्या लगाया जाय कि "क्रांतिकारी आंदोलनों के लिए **इसके अलावा कोई रास्ता नहीं** है कि वे मेहनतकश जनता की जीवन की स्थितियों में सुधार के संघर्ष के रास्ते से आगे बढ़ें"? लेनिन की "क्या करें?" के हवाले से हम यह जानते हैं कि यह कि शुद्ध अर्थवाद है। अर्थवादी यही बात करते थे कि "आर्थिक संघर्षों (जीवन स्थितियों की बेहतरी के लिए संघर्ष) को ही राजनीतिक रूप दे दिया जाय"। आज हमारे श्रीमान अरविन्द कहते हैं कि **इसके अलावा** कोई रास्ता नहीं है कि आर्थिक संघर्ष के रास्ते से बढ़ें। लेनिन ने तब अर्थवादियों से अपने

भीषण संघर्ष में यही बात स्थापित की कि क्रांतिकारी पार्टी को आर्थिक भंडाफोड़ों व आर्थिक संघर्षों को अपना एकमात्र या यहां तक कि प्रमुख कार्य भी नहीं बनने देना चाहिए। इसका प्रमुख कार्य है राजनीतिक भंडाफोड़ और राजनीतिक संघर्ष। सर्वहारा को सीधे राजनीति देकर, उसे सीधे राजनीतिक संघर्षों में उतारकर ही क्रांति की ओर ले जाया जा सकता है। जो कोई भी सोचता है कि रास्ता **केवल** आर्थिक संघर्षों से है, वह अर्थवादी सोच से पूरी तरह ग्रस्त है।

इसी तरह यह बात कि सामाजिक जीवन का प्रबन्ध करने का यह अनुभव क्रांति के बाद हमारे काम आयेगा, मुख्य लक्ष्य के मुकाबले उसके तीसरे-चौथे दर्जे के प्रश्नों में अपने को फंसा लेना है। निश्चय ही क्रांति के बाद सामाजिक जीवन का प्रबन्ध हमारे सामने भारी चुनौती होगी लेकिन क्रांति के पहले मुख्यतः राज्य सत्ता पर कब्जा करने के प्रयासों पर केन्द्रित करने के बदले बाद में क्या होगा, इसकी तैयारी करना, वास्तविक तात्कालिक कार्यभारों से पलायन करना है। यह साथ ही क्रांति के भीषण, कठिन कार्यों से सुधारवाद में पलायन करना है, "क्रांति के रास्ते" की आड़ में। प्रसंगवश हम यह भी बता दें कि स्टालिन का यह कहना है कि रूस की क्रांति (लेनिन के नेतृत्व में) दूसरे इंटरनेशनल के सूरमाओं की इस बात को खारिज करते हुए हुयी कि जब तक सर्वहारा वर्ग समाज के प्रबन्ध के किए यथोचित अनुभव नहीं प्राप्त कर लेता तब तक उसे सत्ता पर कब्जा नहीं करना चाहिए। साथ में यह बात भी है कि श्रीमान अरविन्द की यह थीसिस उस अति पुराने और तय सवाल को पुनः "खोलना" है कि सर्वहारा वर्ग अपने वर्तमान में लिए लड़े या भविष्य के लिए? सुधारवादी तब मूलतः वर्तमान के लिए लड़ने की बात करते थे और क्रांतिकारी मूलतः भविष्य के लिए लड़ने की। यहां हम स्पष्ट देख रहे हैं कि श्रीमान अरविंद का झुकाव साफ है - वे वर्तमान के लिए ज्यादा चिंतित हैं।

V

मजदूरों की नहीं, "ज्यादा क्षमतावान" लोगों की पार्टी

अभी तक दुनिया के सारे कम्युनिस्ट, **कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र** के समय से ही मानते रहे हैं कि सर्वहारा वर्ग की मुक्ति सर्वहारा वर्ग के ही हाथों होगी तथा उसकी क्रांतिकारी पार्टी मूलतः सर्वहारा वर्ग के लोगों मे बनी होगी। गैर सर्वहारा लोग उस पार्टी में केवल सर्वहारा की विचारधारा को स्वीकार कर ही शामिल हो सकते हैं।

साथ ही शुरू से ही इस बात पर कोई बहस नहीं रही है कि किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी का कम्युनिस्ट चरित्र, अपनी कम्युनिस्ट विचारधारा के बावजूद, सही मायनों में तब बनेगा जब उस में प्रधानतः मजदूर शामिल हों। वह वहां सशरीर हों, अपनी विचारधारा मात्र के माध्यम से नहीं।

लेकिन श्रीमान अरविन्द कम्युनिस्टों के बीच स्थापित मूल बात को पलटना चाहते हैं। उनका कहना है कि अब जमाना बदल गया है और इसीलिए कम्युनिस्ट पार्टी की भौतिक संरचना भी बदल जानी चाहिए।

> "जो लोग सर्वहारा के अगुवा दस्ते को एकमात्र औद्योगिक मजदूरों या मजदूर वर्ग के किसी हिस्से में तलाशते रहते हैं **वे वर्ग और उसके अगुवा दस्ते की यांत्रिक समझदारी के** शिकार हैं तथा वे अर्थवाद और स्वतः स्फूर्तवाद में फंस कर रहेंगे। जो लोग सोचते हैं कि पार्टी में किसान पृष्ठभूमि के कामरेडों की प्रधानता होगी क्योंकि उनकी नजर में किसान भारतीय क्रांति की मुख्य ताकत होंगे, वे वस्तुतः ऐसी समझ की वकालत कर रहे हैं जो पार्टी को लोकरंजकतावाद की वेदी पर कुर्बान कर देगी। मूल बात यह है कि **कम्युनिस्ट क्रांतिकारी पार्टी मजदूर वर्ग और उसके विभिन्न हिस्सों के भौतिक प्रतिनिधित्व से निर्मित नहीं होती। यह सर्वहारा वर्ग और उसके हितों के सारतत्व का प्रतिनिधित्व करती है।** यह इसके वर्तमान का प्रतिनिधित्व करती है लेकिन इससे भी ज्यादा यह उसके भविष्य का प्रतिनिधित्व करती है। **क्योंकि यह सारतत्व, एक अधिक विकसित पूंजीवाद में, व्यापक प्रकार की सामाजिक शक्तियों और परिघटनाओं में बिखर जाता है, इसका प्रतिनिधित्व और ज्यादा अमूर्त रूप ग्रहण कर लेता है। इसकी समझदारी इसीलिए और ज्यादा उन्नत चेतना, और ज्यादा उन्नत सिद्धान्त की तथा आम तौर पर और ज्यादा क्षमता की मांग करती है।** ...." (वही, पृष्ठ-39, जोर हमारा)

अन्य जगहों की तरह यह थीसिस भी एक झूठ से प्रस्थान करती है। यह थीसिस दस्तावेजों के "हमारे कार्यभार" शीर्षक के तहत प्रस्तुत की गयी है जहाँ मूलतः भारत में पार्टी निर्माण के संबंध में कठिनाइयों की चर्चा हो रही है। उसके तहत "अगुवा तत्व" इत्यादि पर बातें हो रही हैं। यानि प्रसंग-देश और काल-बिल्कुल साफ है। फिर यह "अधिक विकसित पूंजीवाद" की बात कहां से आ गई? क्या भारत एक "अधिक विकसित

पूंजीवादी" देश है? या, प्रसंगवश,क्या दुनिया के ज्यादातर देश "अधिक विकसित पूंजीवादी" समाज हैं? फिर "अधिक विकसित पूंजीवादी" समाज को आधार बनाकर कही गई बात को क्यों हर जगह के लिए प्रस्तावित किया जा रहा है? क्या यह सरासर आँखों में धूल झोंकना नहीं है?

अब खुद "अधिक विकसित पूंजीवाद" पर ही आयें। हम अपनी आलोचना के तीसरे हिस्से में देख चुके हैं कि "अधिक विकसित पूंजीवाद" में वर्ग विरोधों के धूमिल होने, उसके विभेदीकृत सामाजिक वास्तविकता के नीचे दब जाने इत्यादि की सारी बातें धूम्रावरण हैं। वे प्रतीति से आगे सारतत्व को उद्घाटित करने का दावा करती हैं लेकिन वस्तुतः प्रतीति तक सीमित होकर रह जाती हैं, बल्कि वे प्रतीति का बहुत भोंडा सैद्धान्तीकरण प्रस्तुत करती है। इस "सिद्धान्त" पर खड़ा किया गया कोई भी ढांचा ध्वस्त होने के लिए पहले ही अभिशप्त है।

श्रीमान अरविन्द की बात यदि मान ली जाय तो सर्वहारा का सारतत्व व्यापक प्रकार की सामाजिक शक्तियों और परिघटनाओं - संतृप्त मध्यम वर्ग; पर्यावरणवादी, नारीवादी, एथनिक (ethnic) आंदोलनों इत्यादि - में बिखर गया है तथा इसीलिए स्थिति ज्यादा जटिल और अमूर्त हो गयी है। अब इस जटिलता और अमूर्तता को जाहिल, कम बुद्धिवाला सर्वहारा तो समझने से रहा। तब फिर "अधिक उन्नत चेतना", "उन्नत सिद्धान्त" और "ज्यादा क्षमता" से लैस मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवी ही वे लोग बनते हैं जो इसे समझ और ग्रहण कर सकते हैं और इसीलिए उन्ही को लेकर सर्वहारा की पार्टी बनेगी। वैसे भी सर्वहारा का सारतत्व मध्यम वर्गों और उनके सुधारवादी आंदोलनों - पर्यावरणवादी, नारीवादी, एथनिक - में बिखर गया है सो ये मध्यमवर्गी बुद्धिजीवी भी सर्वहारा के सारतत्व से संपूरित हैं। उन्हें अपना वर्ग छोड़कर, "डी-क्लास" होकर पार्टी में शामिल होने की आवश्यकता नहीं, वे तो पहले से ही सर्वहारा सारतत्व लिए बैठे हैं। अब श्रीमान अरविन्द, मेधा पाटकर और यहां तक कि ढेरों गैर-सरकारी संगठन चलाने वाले लोग ही वे "अगुवा तत्व" होंगे जो सर्वहारा की पार्टी का निर्माण करेंगे। वैसे भी सर्वहारा की पार्टी में सर्वहारा के **भौतिक प्रतिनिधित्व** की जरूरत नहीं होती। जो लोग ऐसा सोचते हैं वे "यांत्रिक समझदारी" के शिकार हैं। सर्वहारा अब अपना प्रतिनिधित्व खुद नहीं करेगा, उसका प्रतिनिधित्व किया जायगा - "ज्यादा उन्नत चेतना" "ज्यादा उन्नत सिद्धान्त" और "ज्यादा क्षमतावान" श्रीमान अरविन्द सरीखे बुद्धिजीवियों के द्वारा!

रही बात हमारी तो, हम "रूढ़िवादी" मार्क्सवाद पर ही चलेंगे। हम लेनिन के हिसाब से चलेंगे कि पार्टी में जितना संभव हो सके ज्यादा से ज्यादा मजदूरों को भर्ती किया जाना चाहिए। लेनिन ने 1904 में सलाह दी थी कि हर कमेटी में प्रत्येक 2 बुद्धिजीवी कामरेड के पीछे 8 मजदूर होने चाहिए और उन्होंने अत्यन्त खुशी जाहिर की जब उन्होंने पाया कि 1905-7 की क्रांति के दौरान यह अनुपात 1:100 से भी ज्यादा बढ़ गया। यही नहीं, लंदन में हुयी पार्टी की तीसरी कांग्रेस (केवल बोल्शेविकों की कांग्रेस) ने सभी पार्टी संगठनों को यह निर्देश दिया कि वे जितना ज्यादा संभव हो उतना मजदूर कामरेडों को कमेटियों मे भर्ती करें। यह साफ तौर पर कहा गया कि इसे "चुनाव" पर न छोड़ा जाय कि मजदूर साथी यदि योग्य होंगे तो स्वतः ही चुनकर कमेटी में आ जायेंगे। इसके लिए खुद कांग्रेस में ही लेनिन ने "चुनाव" की वकालत करने वाले लोगों से संघर्ष किया।

पार्टी में सर्वहारा के **भौतिक प्रतिनिधित्व** की अहमियत इस बात से भी समझ में आती है कि लेनिन ने क्रांति के बाद उच्चतर कमेटियों में मजदूरों की भर्ती के लिए लगातार जोर दिया। यही नहीं दिसंबर 1922 में उन्होंने केन्द्रीय समिति की स्थिरता के लिए, उसे फूट से बचाने के लिए उसकी संख्या बढ़ाकर 100 तक पहुँचा देने को कहा और यह सारी बढ़ी हुयी संख्या मजदूरों से भरी जानी थी।

लेकिन इस सबके बावजूद, कुछ लोग हैं जो आगे आते हैं तथा "अधिक विकसित पूंजीवाद" का हवाला देकर पार्टी को बुद्धिजीवियों की पार्टी बनाना चाहते हैं, वे सर्वहारा का प्रतिनिधित्व बुद्धिजीवियों से कराना चाहते हैं। तब हम उनसे साफ कहेंगे कि बराय मेहरबानी आप हमें अपने "खुले दिमाग", "वैज्ञानिक दृष्टिकोण" से दूर रखें और हमें हमारे "रूढ़िवाद" पर छोड़ दें।

चलते-चलते हम एक बात और बता दें। अपनी "अधिक उन्नत चेतना" की थीसिस को स्थापित करने के लिए श्रीमान अरविन्द उन लोगों की लानत-मलानत करते हैं जो "समर्पण, सुसंगतता, कठिनाइयां झेलने व बलिदान करने की क्षमता पर अत्याधिक जोर देते हैं" और जो "खुले दिमाग व वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला होने,

व्यावहारिक तथा नई राह की खोज करने वालों" को शंका की दृष्टि से देखते हैं। श्रीमान अरविंद के प्रति पूरा सम्मान दिखाते हुए हम कहेंगे कि समर्पण इत्यादि क्रांतिकारी होने की पहली शर्त है। जो इन गुणों से वंचित है वह कभी भी क्रांतिकारी नहीं हो सकता चाहे वह कितना ही खुले दिमाग वाला इत्यादि क्यों न हो। इस बात पर जितना भी जोर दिया जाए वह कम है खासकर आज क्रांतिकारी खेमे की विश्रृंखलता के दौर में जब ढेरों लोग चायखानों में बैठकर क्रांति कर रहे हैं और ढेरों अन्य क्रांतिकारी नेता अपनी पारिवारिक जिन्दगी के इर्द-गिर्द सिमटते हुए क्रांतिकर्म जारी रखने का भ्रम अपने कार्यकर्त्ताओं में फैलाते रहते हैं। ऐसे में क्रांतिकारी भावना की रक्षा के लिए समर्पण इत्यादि पर जोर अतिरेक नहीं, आज की घनघोर आवश्यकता है।

VII

खुली पार्टी की बेशर्म वकालत

यही नहीं कि श्रीमान अरविंद एण्ड कम्पनी सर्वहारा की पार्टी को बुद्धिजीवियों की पार्टी बनाना चाहते हैं, बल्कि वे उसे खुली पार्टी भी बनाना चाहते हैं। पार्टी के खुले या भूमिगत होने का सवाल अब उनके लिए "तकनीकी" मामला बन गया है।

अपनी खुली पार्टी की थीसिस को परवान चढ़ाने के लिए श्रीमान अरविंद लेनिन की "क्या करें?" को दो हिस्सों में बांट देते हैं। उनका कहना है कि पहला हिस्सा "सैद्धान्तिक" है जो पार्टी के "अगुवा दस्ते" के चरित्र से संबंध रखता है। दूसरा, उनके हिसाब से 'व्यावहारिक" पहलू है। वे कहते है:

> "...इसके बाद वह व्यावहारिक स्तर है जो इस तरह के मामलों से संबंधित है कि पार्टी किस तरह अपनी संरचना और प्रबंध करे, उसे किस तरह का काम समाज में करना चाहिए और उसे इसे किस तरह करना चाहिए, ..." (वही, पृष्ठ-38)।

इसके बाद,

> "....बीसवीं सदी के अंत में एक बुर्जुआ समाज में पार्टी का काम उससे बहुत भिन्न तरह से होगा जैसा कि वह इस सदी की शुरुआत में एकतंत्र वाली जारशाही में था..." (वही, पृष्ठ-38)।
>
> "एक बार फिर इसे स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि अगुवा चरित्र का सवाल वहीं नहीं है जो पार्टी के भूमिगत या खुले होने का सवाल है। **वास्तव में, एक अगुवा पार्टी पूर्णतया खुली भी काम कर सकती है।** यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है।" (वही, पृष्ठ-41,जोर हमारा)।

और अंत में,

> "वस्तुतः भूमिगत या खुला होना सबसे गंभीर मुद्दा नहीं है, न ही यह आधारभूत सिद्धांत का मामला है। **यह करीब-करीब एक तकनीकी मामला है** जो मोटा-मोटी व्यावहारिक तरीके से तय होता है इन बातों को ध्यान में रखते हुए कि हमारा किस तरह के राज्य से साबका पड़ा है और हम किस तरह के समाज में रह रहे हैं।..." (वही, पृष्ठ-37, जोर हमारा)।

एक बार हम फिर यह याद रखें कि बात यहां अमूर्त तरीके से नहीं हो रही है। बात बिलकुल ठोस तरीके से हो रही है - भारतीय परिस्थितियों में। "हमारा किस तरह के राज्य से साबका पड़ा है और हम किस तरह के समाज में रह रहे हैं" यह अमूर्त सवाल या अटकलबाजी का मामला नहीं है। हम भारतीय समाज की और भारतीय राज्य की बात कर रहे हैं। इन स्थितियों में आपकी 'ठोस' राय क्या है - यहां पार्टी खुली होनी चाहिए या गुप्त? यह ऐसा ठोस सवाल है जिसे आपने "क्या करें"? के बारे में अपनी अनर्गल बातों और अमूर्त प्रस्थापनाओं से गायब कर दिया और अंत तक जिसका ठोस जवाब नहीं दिया। वैसे आपकी चाल कामयाब रही। "खुली-गुप्त" की अमूर्त बातों की गुबार में आपने कुछ बातें और भी कह दीं मसलन "बीसवीं सदी के अंत के बुर्जुआ समाज" वाली बात व "एक अगुवा पार्टी पूर्णतया खुली भी काम कर सकती है" और फिर इनके सहारे आप अपने खुले पार्टी काम को बाद में अपने कार्यकर्त्ताओं के सामने जायज ठहरा सकते हैं।

अब आयें आपकी प्रस्थापना पर। यह बात गलत है कि खुली या गुप्त पार्टी 'आधारभूत सिद्धांत' का मामला नहीं है और यह "करीब-करीब तकनीकी मामला" है। बीसवीं सदी की क्रांतियों के सारे अनुभव के बाद जो कोई भी यह बात करता है वह प्राकारांतर से क्रांति को तिलांजलि देने की बात कर रहा है। दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियों के इतिहास ने नकारात्मक तरीके से और रूस समेत सभी क्रांतियों के इतिहास ने सकारात्मक तरीके से यह दिखाया कि एक क्रांतिकारी कम्युनिस्ट पार्टी को मूलतः गुप्त पार्टी क्यों होना चाहिए। वह सीधी सी इस

बात के कारण कि मूलतः गुप्त पार्टी के बिना प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ वर्ग का तख्ता पलटना संभव नहीं है। तैयारी के कुछ काम तो खुले तरह से किए जा सकते हैं परन्तु शत्रु को परास्त करने के सारे मुख्य काम अनिवार्यतः ही गुप्त होंगे। और वे क्रांति के नजदीक पहुंचकर नहीं बल्कि शुरुआत से ही गुप्त होंगे। इसके उल्टे सोचना और अमूर्त ढंग से परिस्थितियों का हवाला देना ख्रुश्चेववाद को बढ़ावा देना होगा जिसके प्रति आप वैसे भी कुछ ज्यादा ही मेहरबान हैं।

वैसे आपकी इन अनर्गल बातों के जवाब में हम आपकी ही 1992 की बात को उद्धृत करेंगे जिससे हर पाठक देख ले कि कैसे आपने पुरानी अवस्थिति छोड़ी है और बिना बताए नई अवस्थिति ग्रहण की है। तीसरी कांफ्रेंस द्वारा स्वीकृत आपके 'ड्राफ्ट पार्टी प्रोग्राम' का पैरा-43 कहता है:

> "... गैरकानूनी फार्म और संघर्ष के गुप्त तरीके **अनिवार्यतः ही** क्रांतिकारी संघर्ष में पार्टी द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले शस्त्रागार का **कोर** होंगे।... अंत में **संघर्ष के गैर कानूनी रूपों और गुप्त तरीकों तथा नेटवर्क के आधार पर ही** पार्टी वर्ग युद्ध में सफलतापूर्वक क्रांतिकारी शक्तियों को कमाण्ड कर सकेगी जो राज्य सत्ता पर कब्जे तक ले जाएगा।" (Documents of third Party Conference, CLI (ML), पृष्ठ-54, अनुवाद व जोर हमारा)।

बात शीशे की तरह साफ है! आपने अपनी आम सुधारवादी प्रवृत्ति के अनुरूप इस क्षेत्र में भी पुरानी अवस्थिति छोड़ी है और नई सुधारवादी ग्रहण की है।

वैसे प्रसंगवश, हम यहां दो बातों का उल्लेख कर दें। "क्या करें?" की पूरी चर्चा में या "पार्टी निर्माण" की इस पूरी विवेचना में आपने कहीं पेशेवर क्रांतिकारियों का जिक्र नहीं किया है जिसके बारे में हम जानते हैं कि वह लेनिन की पार्टी की मूल अवधारणाओं में से एक है? इस मामले में चुप्पी क्यों? कहीं ऐसा तो नहीं कि आप "अंशकालिक" बुद्धिजीवियों की पार्टी बनाना चाहते हैं?

दूसरे, खुली और गुप्त पार्टियों की चर्चा करते समय कम्युनिस्ट पार्टियों में CPI व CPM को भी शामिल कर लिया गया है। उन पर इतनी मेहरबानी क्यों?

VII

नये सामाजिक आंदोलन : सुधारवाद की व्यावहारिक परिणति

सचिव महोदय ने कान्फ्रेंस में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में "हमारे कार्यभार" शीर्षक के तहत कई सारे क्षेत्रों की सूची दी है जिसमें पार्टी को कार्य करना चाहिए। वैसे सारे दस्तावेजों में कार्यभारों की यही सूची है क्योंकि बाकी दस्तावेजों - "अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के बारे में" व "राष्ट्रीय परिस्थिति के बारे में" में कार्यभारों का कोई जिक्र नहीं है। वहां जो बातें हैं, वे प्रस्थापनाएं हैं।

कार्यभारों की इस सूची में जिन बातों पर जोर दिया गया है वे ज्यादातर वही बातें हैं जो "नये सामाजिक आंदोलन" के दायरे में आती हैं। मजदूरों ओर नौजवानों में कार्यों की बात को तो महज नयी सोच ओर नई कार्यशैली के हिसाब से उनमें जान फूँकने की बात कर छोड़ दिया गया है। यानि "अधिक विकसित पूंजीवादी" समाजों के बाद अब भारत जैसे "कम विकसित पूंजीवादी" समाज में भी वही कार्यनीति लागू करने की वकालत की जा रही है:

> "यह [नये सामाजिक आंदोलन -सम्पादक] क्रांतिकारी हस्तक्षेप का कुंजीभूत क्षेत्र है। हमें इस संबंध में नीतियां और योजनाएं विकसित करनी चाहिए और **इसे अपने व्यावहारिक काम का बड़ा क्षेत्र बना लेना चाहिए।**" (वही, पृष्ठ-48, जोर हमारा)।

इसी तरह सांस्कृतिक आंदोलन के बारे में यह बात कही गयी है:

> "...नाटक, कला ओर साहित्य के प्रचलित क्षेत्रों में गतिविधियों के अलावा भी इसे **सामाजिक आंदोलनों** के वैचारिक सांस्कृतिक पहलुओं तथा वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण और पहुंच को प्रोत्साहित करने वाले आंदोलन को भी समेटना चाहिए। इस व्यापक अर्थ में सांस्कृतिक आंदोलन को किसी क्रांतिकारी आंदोलन का कुंजीभूत अंग होना चाहिए और **हमें इस दिशा में प्रभावी प्रगति के लिए सभी संभव शक्तियों को** लगाना चाहिए" (वही, पृष्ठ-48, जोर हमारा)।

इन्हीं "नये सामाजिक आंदोलनों" में से एक नारी आंदोलन के बारे में यह बात कही गई है:

> "...क्रांतिकारी आंदोलन को अपने को इस सवाल पर संवेदनशील (Sensitise) बनाना होगा..." (वही, पृष्ठ-77)।

जाति समस्या के बारे में तो बात और भी आगे तक चली गई है और वहां जातिगत पहचान का इस्तेमाल

करने की बात की जा रही है:

> "...जब तक जाति व्यवस्था सामाजिक उत्पीड़न और बहिष्करण का स्रोत है तब तक जाति आधारित पहचान को भुलाया नहीं जा सकता। दलितों के मामले में खासकर और कुछ हद तक निचले शूद्रों के मामले में **भी एक हद** तक, क्रांतिकारी आंदोलन द्वारा जातिगत पहचान का जाति आधारित उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिरोध और संघर्ष के लिए शक्तिशाली ताकत के तौर पर इस्तेमाल किया जा सकता है।" (वही, पृष्ठ 80-81)।

काश मजदूरों में भी इतने ही जोर शोर से "व्यावहारिक काम का बड़ा क्षेत्र बनाने" **"सभी संभव शक्तियों"** को लगाकर काम करने की बात की जाती! यहां यह भी दृष्टव्य है कि "नये सामाजिक आंदोलनों" के बारे में अमूर्त और "सैद्धान्तिक" चर्चा करने के बाद "राष्ट्रीय परिस्थिति के बारे में" दस्तावेज में नारी समस्या पर अलग से तीन पृष्ठ और जाति समस्या पर दो पृष्ठ दिए गए हैं। इसके मुकाबले मजदूरों के बारे में एक पृष्ठ भी नहीं है।

आज पूरी दुनिया में और भारत में मजदूर आंदोलन की क्या स्थिति है, उसकी क्या समस्याएं हैं, इस पर दस्तावेजों में कहीं चर्चा नहीं है। यदि नये "सामाजिक आंदोलन" के बारे में प्रस्थापनाओं और पार्टी की भौतिक संरचना के बारे में अनर्गल प्रलाप को ही मजदूर वर्ग की समस्याओं पर बातचीत नहीं माना जाता तो, कहा जाना चाहिए कि इन दस्तावेजों में इस अति महत्वपूर्ण क्षेत्र पर कोई बात नहीं है। क्या यह "विस्मरण", यह "प्रसंगहीनता" सांयोगिक है?

नहीं। यदि एक चीज आपकी नजर में प्रधानता ग्रहण करती है औ दूसरी नहीं तो उसके निश्चित कारण होते हैं। श्रीमान अरविंद एण्ड कम्पनी के बारे भी यही सच है। यदि आज ये वर्गेतर आंदोलनों - "नये सामाजिक आंदोलनों" को अपने "व्यावहारिक कार्य का बड़ा क्षेत्र बनाना" चाहते हैं, उसमें वे "सभी संभव शक्तियों" को लगाना चाहते हैं, तो यह उनकी अर्थवादी-सुधारवादी सोच का ही व्यावहारिक प्रतिफलन है। जरा जाति के बारे में उनकी प्रस्थापना को देखिए! अब वे एक दलित मजदूर को दलित की हैसियत से संगठित करेंगे, मजदूर की हैसियत से नहीं। वे उसकी मजदूर की, मेहनतकश की पहचान से नहीं जातिगत पहचान से गोलबंदी करेंगे। क्या उसके बाद ये उस दलित मजदूर को अंबेडकरवाद की शरण में जाने से, बसपा में शामिल हो जाने से रोक पाएंगे? तब क्या वह दलित मजदूर स्वाभाविक तौर पर कांशीराम और मायावती को ही अपना नेता नहीं मानेगा? तब क्यों नहीं वह "विदेशी" मार्क्स के मुकाबले "अपने" अंबेडकर को चुनेगा?

इसी तरह नारी सवाल पर इन्होंने जो तीन पृष्ठ की "थीसिस" पेश की है वह पूर्णतया बुर्जुआ नारीवादी विचारधारा से सराबोर है। वहाँ वर्गीय विश्लेषण का लेशमात्र भी चिन्ह नहीं है। वहां औपचारिक तौर पर भी कहने की जरूरत नहीं महसूस की गई है कि पूंजीपति वर्ग की नारियां मेहनतकश नारियों की दुश्मन हैं और उनकी किसी सवाल पर एकता नहीं बन सकती, नारी सवाल पर भी नहीं। नहीं, वहां सब नारियां केवल नारियां हैं, चाहे वे पूंजीपति हों या मजदूर! वर्गेतर दृष्टिकोण की क्या इससे बेहतर मिसाल हो सकती है?

कुल मिलाकर "नए सामाजिक आंदोलनों" की यह वर्गेतर प्रस्तुति और उनमें भागीदारी करने पर यह जोर उस अर्थवादी-सुधारवादी सोच की व्यावहारिक परिणति है जिसे यदि समय रहते ठीक नहीं किया गया तो यह संगठन एक "नया सामाजिक संगठन" बनकर रह जायगा, एक क्रांतिकारी संगठन के रूप में इसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।

VIII

निष्कर्ष

उपरोक्त सारे विवेचन से साफ है कि कामरेड अरविंद के नेतृत्व वाला यह संगठन, जैसा कि इन दस्तावेजों से अभिव्यक्त होता है, इस समय गंभीर विच्युतियों का शिकार है। यह अपनी विचारधारा और कार्य दोनों में उत्तर आधुनिकतावाद-अर्थवाद-सुधारवाद को प्रश्रय दे रहा है। इसके द्वारा प्रस्तुत "सिद्धांतों" पर यदि अमल किया गया तो यह "नया सामाजिक आंदोलन" करने वाले या आर्थिक सुधार का कार्य करने वाले अंशकालिक बुद्धिजीवियों का खुला संगठन बन जाएगा। यह क्रांतिकारी आंदोलनों के लिए गंभीर क्षति होगी, खासकर इसलिए कि अपने पतन के साथ यह ढेरों विभ्रमों को जन्म देगा। इसीलिए समय रहते इसकी सुधारवादी-अर्थवादी सोच से सीधा संघर्ष करने की जरूरत है। हमारी उपरोक्त आलोचना का उद्देश्य भी यही है। ■